UNIVERSAL LIBRARY
OU_182427
UNIVERSAL LIBRARY

सृष्टि की साँझ

और

अन्य काव्य-नाटक

श्री सिद्धनाथ कुमार

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82/S56Sr Accession No. G.H.

Author सिद्धनाथ कुमार।

Title सृष्टि की साँझ और अन्य.

This book should be returned on or before the date last marked below.

सृष्टि की साँझ

और

अन्य काव्य-नाटक

श्री सिद्धनाथ कुमार

पुस्तक-मंदिर, बक्सर (आरा)

प्रकाशक
पुस्तक-मंदिर, बक्सर (आरा)

प्रथम संस्करण, दिसम्बर १९५४
मूल्य ४॥)

मुद्रक—
युनियन प्रेस, पटना–४

आशीर्वाद

विज्ञान का विकास साहित्य को कितना प्रभावित करता है, इसे जानने के लिए यह देखना ही यथेष्ट है कि रेडियो ने किस तरह साहित्य के नए-नए रूपों को जन्म दिया है, और देता जा रहा है ।

एक दृष्टि से देखिये, तो वाणी या वाङ्मय का उसके सही अर्थ में यथार्थ प्रतिनिधित्व तो रेडियो ही कर पाता है ।

वाणी या वाङ्मय मुख्यतः बोले गए, कंठ-निःसृत अर्थयुक्त शब्दों का समुच्चय-मात्र है ।

वाणी हमारे कंठ मे फूटी थी । उसे लिख रखने की कला का आविष्कार तो हमने पीछे किया ।

शब्दो को अक्षरों मे बाँधना कोई सहज काम नहीं था, मानवता को कितनी सहस्राब्दियाँ इसमें लगी होंगी । मुख्यतः इस आविष्कार का ही यह श्रेय है कि वेद से लेकर आजतक का वाङ्मय सुरक्षित है ।

किन्तु, अक्षरों की परिमितता होती है । वेद का यह सूक्त इसी ऋषि का है, यह लिख दिया गया, हमने मान लिया । किन्तु उससे भी अच्छा क्या यह नहीं हुआ होता कि वेद का सूक्त उस ऋषि की वाणी में ही हमारे पास संग्रहीत होता, और तब उसकी प्रामाणिकता और भी अधिक मान्य होती ।

बाल्मीकि द्वारा सिखलाई गई रामायण को यदि हम लव-कुश के मुंह से सुन पाते या स्वयं बाल्मीकि के ही श्रीमुख से सुनते; व्यासजी की वाणी में ही उनका महाभारत सुन पाते; योंही कालिदास के स्वर में मेघदूत, जयदेव के स्वर में गीतगोविन्द, विद्यापति के स्वर में उनकी पदावली, कबीर के स्वर में उनके शब्द, सूर के स्वर में उनके भ्रमर-गीत, तुलसी के स्वर में उनकी विनय-पत्रिका और मीराँ के स्वर में उनके प्रेम-गीत सुनने का यदि हमें सौभाग्य मिल पाता, तो हम अपने को कितना धन्य-धन्य समझते ।

किन्तु अक्षय आत्मा का अधिवास होता हुआ भी जैसे यह शरीर नष्ट हो जाता रहा; ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करनेवाले हमारे शब्द भी हमारे कंठ से निकलकर निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाते रहे ! कीर्त्तियों में हमने जैसे शरीर

की प्रतिष्ठा की, अक्षरों में हमने शब्दों को बाँधने की कोशिश की, कुछ सफल भी हुए।

हमारी आँखों को, हमारे हृदय और मस्तिष्क को इससे थोड़ा संतोष मिला; किन्तु बेचारे कान तो प्यासे ही रह गये!

रेडियो ने अब यह सम्भव कर दिया है कि हम अब अपने गीतकारों, साहित्यकारों, चिन्तकों, मनीषियों की वाणी उन्हीं की वाणी में सुन सकें—जबतक वे जीवित हैं, संसार के किसी कोने में भी सुनते रहें; यदि वह चल बसें, तो उनकी उस वाणी को वैज्ञानिक प्रक्रिया से इस प्रकार सुरक्षित कर लें कि सैकड़ों, हजारों साल बाद भी हमारी संतानें उसे उसी प्रकार संसार के कोने-कोने में सुन सकें, जैसा हम सुनते और तृप्त होते हैं! यों रेडियो ने वाणी को, वाङ्मय को उसके सम्पूर्ण अर्थ में वाणी और वाङ्मय के रूप में प्रतिष्ठित किया है, इसे आप भी स्वीकार करेंगे।

यही नहीं, रेडियो ने वाणी के कुछ और माध्यमों के विकास की ओर वाणी के वर-पुत्रों का ध्यान खींचा है।

काव्य-नाटक उनमें एक है।

जिस तरह यह तथ्य सर्वस्वीकृत है कि संसार में कुछ भी नया नहीं है, उसी तरह यह कहना भी अर्थहीन होगा कि काव्य-नाटक सम्पूर्णतः रेडियो का ही आविष्कार है।

हमारे साहित्य में बहुत-सी कृतियाँ हैं, जो काव्य-नाटक के बहुत ही निकट तक पहुँचती ह।

यूरोप का 'ओपेरा' तो सम्पूर्ण रूप में काव्य-नाटक है! आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी उनका अनुकरण हुआ है।

किन्तु रेडियो ने उसमें नए प्राण ही नहीं भरे हैं, उनका काया-कल्प भी कर दिया है।

कवि के मुख से या रंगमंच पर अभिनेता-अभिनेत्रियों के मुंह से नाना भाव-भंगिमाओं से युक्त काव्य-कृतियाँ सुनते और उन्हें देखते हुए हम रस की जो उपलब्धि करते हैं; उसे सिर्फ कानों से सुनकर सम्पूर्ण रूपमें प्राप्त कर सकें—इसके लिए उस काव्य-कृति में पहले की अपेक्षा कुछ और भी सम्मिलित करना ही होगा। शब्दों के चयन में तब और भी सावधानी बरतनी होगी। उस काव्य की काया में कुछ और परिवर्त्तन करना होगा। संक्षेप में, आनन्दवर्द्धन ने काव्य की जो ध्वनिमूलक व्याख्या की है, उसकी सार्थकता का प्रतिष्ठापन करना पड़ेगा।

यह काम कठिन है—अत्यन्त कठिन। किन्तु हिन्दी में उसके कुछ सफल प्रयोग हो पाए हैं, कुछ ख्यातनामा कवियों द्वारा और कुछ युवक-हृदयों द्वारा भी।

श्री सिद्धनाथ कुमार उन्हीं युवक-हृदयों में हैं।

श्री सिद्धनाथ कुमार को मैंने पहले उनकी कृतियों द्वारा ही जाना। इधर बिहार में दो प्रतिभायें ऐसी आई हैं, जिन्होंने मुझे बहुत ही प्रभावित किया है—एक, श्री मदन वात्स्यायन और दूसरे, सिद्धनाथजी। दोनों ही मौन साधक हैं। दोनो सरस्वती की आराधना, आराधना के रूप में ही करते हैं। दोनों ने अपने को छिपाये रखना चाहा है, किन्तु दोनों अचानक नए सितारे की तरह साहित्य-गगन में चमक उठे हैं।

कुछ दिनों से पटना रेडियो पर सिद्धनाथ कुमार का नाम सुनने लगा था। मुझे आश्चर्य हुआ, यह अचानक कौन-सा नाम मेरे कानों में बार-बार टकरा जाता है। पहले अनमना बना रहा, किन्तु, धीरे-धीरे वह नाम कानों से उतर कर हृदय में घर बनाता गया।

कि एक दिन सिद्धनाथ को देखा। दुबला-पतला, छोटा-सा एक नवयुवक —किशोर कहिए, तो भी अत्युक्ति नहीं हो। अधरों के ऊपर मसें रही थीं, किन्तु, तो भी बिल्कुल बच्चा-सा। और, उसकी आँखों में तो बचपन की मासूमियत का अब भी राज्य है, और यह राज्य सदा बना रहे, यही मेरी कामना है।

मैं साधुता को साहित्यिकता का एक प्रधान उपादान मानता हूँ। सिद्धनाथ मेरी उस कसौटी पर भी खरे उतरे हे।

सिद्धनाथ ने अपने को आप ही बनाया है। गरीब घर का लड़का—दरिद्रता क्या है, अनाहार क्या है, वस्त्राभाव क्या है, इनकी अनुभूति के लिए सिद्धनाथ को अपना दिमाग़ खरोंचना नहीं पड़ता है। एक नए समाज की स्थापना के लिए, जिसमें समता हो, सुख हो, शान्ति हो—उसकी नस-नस से पुकार उठती है—वह उसकी अपनी माँग है। सिर्फ युग की माँग पर उसे इस माँग का स्वाँग नहीं करना पड़ता।

इसीलिए आप देखेंगे, मुख्यतः रेडियो के लिए ही लिखे गये अपने काव्य-नाटकों में सिद्धनाथ ने रचना-कौशल की ही दृष्टि से नहीं, विषय-वस्तु की दृष्टि से भी नवीनता भर दी है। रेडियो को उन्होंने निकट से देखा है, काव्य में ध्वनि का क्या महत्त्व हे, इसकी शिक्षा उन्होंने किसी आनन्दवर्द्धन

से नहीं ली है। उस आचार्य की कल्पना की साकारता से उन्हें शिक्षा मिली है। फलतः उपयुक्त शब्दों को ऐसी गति में वह अवतारणा कर पाते हैं कि वे उनके हृदय-गत भावों को बड़े ही प्रभावशाली रूप में कर्णगोचर करा पाते हैं! और, ज्यों-ज्यों आप सुनते जाते हैं, वे भाव साकार होकर आपके समक्ष सपक्ष उड़ते-से दिखाई पड़ते हैं!

उस दिन, रेडियो से निकट संबंध रखनेवाले, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के बीच रेडियो-काव्य-नाटकों की चर्चा चली तो मेरे मुँह से निकल गया— यह छोटा-सा बच्चा बड़े-बड़े बुजुर्गों के कान काट रहा है। लोग चौंके, मैं भी असमंजस में पड़ गया, मैं यह क्या बोल गया हूँ! किन्तु कभी-कभी अचानक मुख से निकली वाणी सोच-समझकर निकलनेवाले आप्त बचनों से अधिक सत्य सिद्ध होती रही है! क्या सिद्धनाथ के बारे में मेरे मुँह से हल्के-फुल्के ढंग से निकली इस बात पर भी यह लागू नहीं हो सकती?

कविवर पंत के शब्दों में हम पुराने पड़े हैं, हमारे पत्ते झड़ रहे हैं। कभी-कभी उन पत्तों से भी मर्मर ध्वनि आ जाती हो; किन्तु वे गिरनेवाले हैं, उन्हें गिरने दीजिये! वे गिरें और खाद बनें कि नई पौध उगें, नई कोपलें फूटें, नए पत्ते लगें, फूल लगें, फल दें! यदि हमारे बच्चे हमें ठेलकर आगे बढ़ते हैं, तो हमें आनन्दित ही होना चाहिए!

हिन्दी का सौभाग्य है कि उसमें नई-नई प्रतिभाओं की झलक आये दिन मिला करती है!

किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि हिन्दी का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि एक छोर पर चमकनेवाली बिजली भी दूसरे छोर पर दिखाई नहीं पड़ती, तो फिर नन्हें-मुन्ने जुगनुओं और आप अपने को जलानेवाली चिनगारियों की कौन-सी बात! इस दुर्भाग्य को दूर करना होगा, हमें कुछ ऐसे माध्यम बनाने पड़ेंगे, जो दूरी के इस व्यवधान को दूर करें; नई प्रतिभाओं की सूचना तुरत ही कोने-कोने तक पहुँचा सकें। जब तक हम ऐसा नहीं कर लेते, तब तक हिन्दी की उन्नति का द्वार बहुत कुछ अवरुद्ध-सा रहेगा।

अन्त में सिद्धनाथको शतशः आशीर्वाद—तुम्हारी साधना, तुम्हारी साधुता, तुम्हारी साहित्यिकता दिन-दिन विकास पाए: हिन्दी के भंडार को नित नई कृतियों से तुम भरते रहो, माँ भारती के चरणों में अपनी पुष्पांजलि अर्पित करते जाओ, चिरंजीव हो, शतायु हो!

पटना — **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी**

९-१२-५४

अपना दृष्टिकोण—

प्रस्तुत पुस्तक में मेरे पाँच काव्य-नाटक संग्रहीत हैं। मेरे प्रथम काव्य-नाटक 'कवि' का जो स्वागत हुआ, उससे काव्य-नाटक की संभावनाओं पर विचार करने तथा इस दिशा में कुछ प्रयोग करने की प्रेरणा मिली।

काव्य-नाटक धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में विशेष स्थान प्राप्त कर रहा है। अंग्रेज़ी-साहित्य के लिए तो यह स्वरूप-विधान कोई नया नहीं, मध्य युग के शेक्सपियर आदि कवियों ने काव्य-नाटक लिखे थे। लेकिन उनके बाद कुछ सदियों तक काव्य-नाटकों की परम्परा अवरुद्ध-सी रही। आधुनिक युग में आकर टी० एस० इलियट, क्रिस्टोफ़र फ्राइ, ईशरवुड, लुई मैकनीस आदि कवियों ने इसे पुनर्जीवित किया है। हमारे हिन्दी-साहित्य में तो नाटकों का ही इतिहास भारतेन्दु-युग से शुरू होता है; काव्य-नाटकों का इतिहास और भी बाद में—'प्रसाद' से। इधर पिछले कुछ वर्षों से रेडियो के विकास के कारण इस स्वरूप-विधान की ओर अनेक कलाकारों का ध्यान गया है, बहुत-से काव्य-नाटक लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। अतः काव्य-नाटकों के सैद्धान्तिक-स्वरूप, उनके क्षेत्र और उनकी संभावनाओं पर विचार किया जाना उचित होगा।

काव्य-नाटक काव्यत्व और रूपकत्व का संगम-स्थल है। काव्य-तत्त्व और नाटक-तत्त्व इसमें आकर एक ऐसे स्वरूप-विधान की सृष्टि कर देते हैं, जिसमें काव्यत्व के कारण मानव-जीवन के राग-तत्त्व बड़ी स्पष्टता से उभर कर आते हैं, भावनाएँ और अनुभूतियाँ अपनी तीव्र और वेगवती धारा में हमें अपने साथ बहा ले जाती हैं। नाटक-तत्त्व भी काव्य-नाटक के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योग देता है। काव्य-नाटकों में हमें मनुष्य का अन्तर्जीवन ही नहीं, बहिर्जगत् भी देखने को मिलता है। नाटकों में किसी-न-किसी कथावस्तु की अपेक्षा होती है; भले ही वह भाव-प्रधान हो। कथावस्तु के अभाव में नाटक की रचना सम्भव नहीं। इसीलिए काव्य-नाटकों में कथावस्तु के माध्यम से हम बहिर्जगत् का भी चित्र देखते हैं। इस प्रकार काव्य-नाटकों में मनुष्य का अन्तर्जीवन और बहिर्जीवन एक साथ ही चित्रित होता है। यह चित्रण हमें कहानी, उपन्यास, गद्यनाटक आदि साहित्य के दूसरे स्वरूप-विधानों में भी देखने को मिलता है; लेकिन काव्य-नाटक की सबसे बड़ी विशेषता, जो उसे

साहित्य के दूसरे स्वरूप-विधानों से पूर्णतः पृथक् कर देती है, यह है कि काव्य-नाटक में छन्दोबद्ध, लयपूर्ण और अलंकृत भाषा का व्यवहार किया जाता है।

छन्दोबद्धता के कारण कुछ लोगों को भ्रम भी होता है। वे छन्दोबद्ध नाटक को काव्य-नाटक न कह कर पद्य-रूपक या पद्य-नाटक कहते हैं, संभवतः इसलिए कि उसमें पात्रों का कथनोपकथन पद्य में होता है। पर किसी गद्य-नाटक को पद्य-नाटक कर देने से ही, वह काव्य-नाटक नहीं हो जाता। काव्य-नाटक और गद्य-नाटक में केवल यही अन्तर नहीं है कि एक के पात्र छन्दोबद्ध भाषा में वार्तालाप करते हैं और दूसरे के गद्य में। इन दोनों स्वरूप-विधानों में केवल बाह्य स्वरूप का अन्तर नहीं, बल्कि आंतरिक सत्य का अन्तर है। काव्य-नाटक और गद्य-नाटक का अन्तर उनकी आत्मा का अन्तर है। काव्य-नाटक की आत्मा, उसकी कथा-वस्तु, उसके पात्र, सब-के-सब काव्यमय होते हैं। इस सम्बन्ध में एबरक्रांबी ने भी यही कहा है*। तात्पर्य यह है कि काव्य-नाटक का स्वरूप-विधान (छन्द, चित्र, अलंकार आदि) उस पर बाहर से आरोपित तत्त्व नहीं, उसकी अनिवार्यता है। अतः न किसी गद्य-नाटक को पद्यबद्ध कर काव्य-नाटक बनाया जा सकता है, न किसी काव्य-नाटक को गद्य में रूपांतरित कर गद्य-नाटक। गद्य-नाटक में परिवर्तित कर देने पर किसी काव्य-नाटक की क्या दशा होगी, वह जेम्स मांटगोमरी के दिये हुए उदाहरण द्वारा कहा जा सकता है कि घास और पत्तियों पर ओस-कण मोती की तरह चमकते हैं, पर हाथ में बटोर लेने पर पानी बन जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि उनके तत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि क्या काव्य-नाटकों में पात्रों का छन्दोबद्ध कथनोपकथन स्वाभाविक है? लोग सोचते हैं कि हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार का माध्यम गद्य है, और जब नाटक जीवन की अनुकृति है, तो उसकी भाषा गद्य ही हो सकती है। इस दृष्टि से गद्य नाटक की स्वाभाविक भाषा है और पद्य अस्वाभाविक। अतः काव्य-नाटक का आधार ही गलत है। यह तथ्य विचारणीय है।

---

* "The kind of play I mean is one in which you feel that the characters themselves are poetry, and were poetry before they began to speak poetry, it would be a wrench for them not so to utter themselves." ('The function of Poetry in the Drama')

सबसे पहले हमें यही देखना होगा कि क्या गद्य नाटक का स्वाभाविक माध्यम है ? गद्य-नाटक में हमें जीवन का एक संश्लिष्ट चित्र मिलता है; एक शृंखलाबद्ध कथानक मिलता है । उसके पात्रों का कथनोपकथन नाटक की मूल समस्या के चारों ओर घूमता रहता है । उनकी भाषा, उनके बोलने के ढंग आदि, सब इस प्रकार के होते हैं कि उनसे नाटक की गतिशीलता बनी रहती है, साथ ही पात्रों का चरित्रांकन भी होता है । लेकिन क्या ये सब हमारे दैनिक जीवन में होते हैं ? हमारे दैनिक जीवन की कोई भी घटना नपे-तुले ढाँचे में बँधी हुई नहीं होती । हमारा वार्तालाप भी सदा किसी निश्चित समस्या पर केन्द्रित नहीं रहता, उसका विषय प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है । हमारे वार्तालाप का बहुत अंश निरर्थक होता है, उससे हमारे जीवन की घटनाओं को सदा गति नहीं मिलती और न उस वार्तालाप से बात-चीत करनेवाले व्यक्तियों के चरित्र पर सदा प्रकाश ही पड़ता है; क्योंकि अधिकांश व्यक्ति घिसी-घिसाई भाषा का ही व्यवहार करते हैं । अतः कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि गद्य-नाटक स्वयं अस्वाभाविक है, वह हमारे जीवन का ठीक-ठीक अनुकरण नहीं करता । फिर भी कुछ समय के लिए नाटक की कथावस्तु, उसके पात्र, वातावरण, कथनोपकथन आदि हमें सत्य-जैसे लगते हैं, क्योंकि वे अपने रूपकत्व के कारण हमारे मन में अपनी सत्यता का विश्वास उत्पन्न कर देते हैं । इस प्रकार के विश्वास की सृष्टि ही नाटक की सफलता है । जहाँ वह इस विश्वास की सृष्टि नहीं कर पाता, वहाँ वह असफल हो जाता है । अतः गद्य-नाटक की तुलना में काव्य-नाटक को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । हमें देखना यह है कि गद्य-नाटक की तुलना में काव्य-नाटक उपर्युक्त विश्वास की सृष्टि करने में कहाँ तक सफल हो पाता है, और जीवन की अनुकृति का कार्य दोनों में कौन अधिक स्वाभाविकता से सम्पन्न करता है ।

जब हम कहते हैं कि नाटक में जीवन का अनुकरण होता है, तब सहसा मन में प्रश्न उठता है कि जीवन के अनुकरण का तात्पर्य क्या है ? जीवन का क्षेत्र तो बड़ा व्यापक है । जीवन के अनेक पक्ष हैं । दृष्टि-भेद से उनमें अनेक सत्य भी देखे जा सकते हैं । हमारे जीवन में, बहिर्जगत् में जो घटनाएँ घटती हैं, जो कार्य होते हैं, वे भी सत्य हैं । हमारे मन में जो विचार, अनुभव आदि होते हैं, वे भी सत्य हैं । बहिर्जगत् के संस्पर्श से हमारे हृदय में जो भावनाएँ उठती हैं, वे भी सत्य हैं । नाटक में इनमें से किनका अनुकरण होता है ? हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि गद्य-नाटक में प्रधानतः बहिर्जगत् में घटनेवाली घट-

-नाओं, क्रिया-कलापों के अनुकरण का प्रयत्न रहता है। दैनिक व्यावहारिक जीवन में लोगों को हम जैसे काम करते, बातें करते देखते हैं, उन्हें वैसे ही चित्रित करने का प्रयास करते हैं। लेकिन बहिर्जीवन ही हमारा सब कुछ नहीं। इस बहिर्जीवन को गति और प्रेरणा देनेवाला हमारा अन्तर्जीवन उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे हृदय में जो राग-विराग होते हैं, जो भावनाएँ उठती हैं, उन्हीं से हमारा बहिर्जीवन संचालित होता है। हमारे अंतरतम के सत्य का अंकन ही कला और साहित्य का लक्ष्य है। इस अंतरतम के सत्य को हम रागात्मक सत्य कहते हैं। गद्य-नाटक अपना ध्यान प्रधानतः हमारे बहिर्जीवन पर रखता है, और उस बहिर्जीवन की घटनाओं, वार्तालापों आदि के द्वारा हम रागात्मक सत्यों तक पहुँचते हैं। इसके विपरीत काव्य-नाटक का प्रधान विषय रागात्मक सत्य ही है। लेकिन वे रागात्मक सत्य शून्य में नहीं प्राप्त हो सकते, उनका आधार हमारा बहिर्जीवन ही है। यदि हम रागात्मक सत्य को आत्मा कहें, तो हमारा बहिर्जीवन शरीर है। शरीर की अनुपस्थिति में आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं। आत्मा की स्थिति के लिए शरीर अनिवार्य है, और इसी अनिवार्यता की पूर्त्ति के लिए काव्य-नाटक बहिर्जगत् की ओर देखता है। इस प्रकार काव्य-नाटक हमारे आंतरिक सत्य को अपना विषय बनाकर जीवन का अनुकरण तो करता ही है, कला और साहित्य के उद्देश्य की पूर्त्ति भी गद्य-नाटक की अपेक्षा अधिक सरलता और सफलता से करता है। इसीलिए वह गद्य-नाटक की तुलना में अधिक विश्वजनीन और व्यापक है। देश और काल के अनुसार मनुष्य के बहिर्जीवन में पर्याप्त विभिन्नता हुआ करती है; पर उसका अंतर्जीवन, रागात्मक सत्य, राग-विराग, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद सर्वत्र समान हैं। और, इन्हें प्रधानता देने के कारण काव्य-नाटक को अधिक व्यापकता प्राप्त हो जाती है। टी० एस० इलियट का भी यही विचार है*।

यहीं नाटक के मूल तत्त्व 'संघर्ष' की दृष्टि से काव्य-नाटक और गद्य-नाटक के अंतर के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए। संघर्ष नाटक का प्रधान तत्त्व है। वह कथावस्तु की सजीवता और दर्शक, श्रोता अथवा पाठकोंके कौतूहल को सदा जागृत रखता है। पर संघर्ष अनेक प्रकार के होते हैं।

* " The tendency, at any rate, of prose drama is to emphasize the ephemeral and superficial, if we want to get at the permanent and universal, we tend to express ourselves in verse. " ' (A Dialogue on Dramatic Poetry ')

मुख्य रूप में हम उन्हें दो प्रकार के कह सकते हैं—बहिर्जीवन के संघर्ष और अंतर्जीवन के संघर्ष । प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत घटनाओं, परिस्थितियों के संघर्ष होते हैं, अनेक व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्ष होते हैं । द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत नैतिक संघर्ष, भावनाओं के संघर्ष, राग-विरागों के संघर्ष होते हैं । गद्य-नाटक का ध्यान विशेषतः प्रथम श्रेणी के संघर्षों पर केंद्रित रहता है, किन्तु काव्य-नाटक द्वितीय श्रेणीके संघर्षों को अपना आधार बनाता है ।हार्ली ग्रैनविल बार्कर का विचार है कि जिस नाटक की कला जितनी ही परिपक्व होगी, उसके कार्य शारीरिक संघर्ष और आकस्मिक घटनाओं पर उतने ही कम आधारित रहेंगे इस दृष्टि से स्पष्टतः कहा जा सकता है कि काव्य-नाटक की कला गद्य-नाटक की तुलना में अधिक उच्च है ।

पात्रों के छन्दोमय वार्तालाप की स्वाभाविकता पर भी विचार करना आवश्यक है । हम देख चुके हैं कि काव्य-नाटक का प्रधान आधार मनुष्य का अन्तर्जीवन है । उसमें पात्रों के हृदय की भावनाओ का अंकन किया जाता है, जीवन की वास्तविकताओं को ऐसे उच्च धरातल पर प्रदर्शित किया जाता है, जहाँ राग-विरागों की वेगवती धारा प्रवाहित होती रहती है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि भावनाओं की तीव्रता के अनुपात में भाषा की लयपूर्णता बढ़ती जाती है , और एक ऐसी स्थिति आती है, जब मनुष्य बरबस गा उठता है । इस सम्बन्ध में टी० एस० इलियट का कथन पूर्णतः सत्य है कि भावावेग के क्षणों में मानव-आत्मा पद्य में ही अपनी अभिव्यक्ति का प्रयास करती है । मिल का भी यही विचार है कि जब से मनुष्य मनुष्य है, उसकी सभी गहरी और तीव्र भावनाएँ लयात्मक भाषा में अभिव्यक्त होना चाहती हैं, और भावनाएँ जितनी ही गहरी होती हैं, भाषा की लयात्मकता उतनी ही निश्चित और विशिष्ट होती है । और, चूँकि काव्य-नाटकों में भावनाओं और अनुभूतियों का ही अंकन प्रधान होता है, उसकी भाषा गद्य के सामान्य स्तर से ऊपर उठ कर छंदामय हो जाती है ।

ऐसा क्यों होता है, इसकी व्याख्या, जैसा कि इलियट ने लिखा है, मनोवैज्ञानिक ही कर सकता है, आलोचक नहीं । किन्तु इस तथ्य की सत्यता में संदेह नहीं किया जा सकता कि जीवन की जिस तीव्र स्थिति की कल्पना कव्य-नाटक में की जाती है, उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति छंदोमय लयपूर्ण भाषा में ही हो सकती है उस स्थिति और छंदोमय भाषा में पूर्ण सामंजस्य बना रहता है, विषय-वस्तु और स्वरूप-विधान, दोनों मिलकर

एकाकार हो जाते हैं, उनका सामूहिक प्रभाव श्रोता पर इस प्रकार पड़ता है कि माध्यम की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता।

भाषा की लयात्मकता की चर्चा करते समय, यहीं उसकी एक-दो विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक लगता है। लयपूर्ण भाषा भावनाओं को उनके तीव्रतम रूप में उपस्थित करती है, या यों कहें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तीव्र भावनाएँ स्वतः लयपूर्ण भाषा की सृष्टि कर लेती हैं, और श्रोताओं की संवेदना को जागृत करने, उन्हें प्रभावित करने में समर्थ हो पाती हैं। हडसन के शब्दों में "संगीत की भाँति छंद भी भावनाओं को स्वतंत्र रूप से स्पर्श करता है।"

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से काव्य-नाटक में प्रयुक्त भाषा की लयपूर्णता की एक दूसरी विशेषता भी है, जो आज के हमारे कर्मव्यस्त जीवन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। जीवन के कठोर संघर्षों ने वर्तमान गति-प्रधान युग में हमारे जीवन को इतना व्यस्त बना दिया है कि हमें मनोरंजन का पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता। हम लगातार तीन घंटों तक बैठकर किसी नाटक को देख-सुन कर मनोरंजन करना नहीं चाहते; यदि करते हैं, तो मनोरंजन की घड़ी में भी समय का कंकाल अपनी उँगली दिखाता रहता है। अतः आज हम कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन, अधिक-से-अधिक आनंद, अधिक-से-अधिक रस-सृष्टि चाहते हैं। यह तभी संभव हो सकता है, जब जीवन की किसी तीव्र स्थिति को तीव्रतम रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित किया जाय। इस दृष्टि से आजकल एकांकी नाटकों और रेडियो-नाटकों की लोकप्रियता सरलता से समझी जा सकती है। प्रभाव के तीव्रीकरण में संकलन-त्रय भी बड़े सहायक हैं। पर तीव्रीकरण का उनसे भी बड़ा साधन है—भाषा की लयपूर्णता, जो काव्य-नाटक में पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

छंदोमय होने के साथ ही काव्य-नाटक की भाषा चित्रात्मक और अलंकारमय होती है। चित्र और अलंकार भी विवेच्य स्वरूप-विधान के स्वाभाविक और अनिवार्य अंग हैं। उनकी स्वाभाविकता आदि का विचार हम इस प्रकार कर सकते हैं: हम अपने दैनिक जीवन में व्यक्तियों का जो रूप प्रतिदिन देखते हैं, वही उनका वास्तविक रूप नहीं होता। इस स्वरूप पर कृत्रिमता का आवरण पड़ा हुआ रहता है। सब लोग लगभग एक ही प्रकार की भाषा, एक ही प्रकार की शब्दावली, एक ही प्रकार के घिसे हुए मुहावरों का व्यवहार करते हैं, जिससे उनके वास्तविक चरित्र का परिचय पाना कठिन होता है। लेकिन, चूँकि काव्य-नाटक में मनुष्य का अन्तर्जीवन प्रधान रूप से चित्रित

होता है, उसके पात्र अपने ऊपर का कृत्रिम आवरण उतार कर, बहिर्जीवन का अतिरिक्त तत्त्व अलग फेंक कर, हमारे सम्मुख अपने सरल और स्वाभाविक रूप में उपस्थित होते हैं। उस समय अपना वास्तविक स्वरूप, अपनी चारित्रिक विशेषता, अपनी वैयक्तिकता प्रकट करने के लिए वे जिस भाषा का व्यवहार करते हैं, उसमें नवीन चित्र भी होते हैं, नवीन अलंकार भी, जो पूर्णतः स्वाभाविक होते हैं। हमें पात्रों की काव्यमय उक्तियाँ स्वाभाविक ही ज्ञात होती हैं। यदि कोई पात्र कहता है—"मेरी वंशी पिस गई यहीं इस लौहयंत्र के घर्घर में", तो हमें यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि आज के यंत्र-युग से उत्पन्न कठिन परिस्थितियों में उसकी सृजनात्मक प्रतिभा का विकास नहीं हो सका, वह अविकसित अवस्था में ही समाप्त हो गई। साथ ही, वैयक्तिक चित्र और अलंकारों के द्वारा पात्रों का चरित्रांकन भी हो जाता है। चरित्रांकन की दृष्टि से भी काव्य-नाटक गद्य-नाटक की अपेक्षा अधिक सफल है।

इन तर्कों के बावजूद कुछ लोग कह सकते हैं, और उनका कहना सही है कि नाटक का उद्देश्य केवल अंतर्जीवन का अंकन नहीं, जीवन की समस्याओं का चित्रण और समाधान भी उपस्थित करना है। समाज की समस्याओं के प्रति भी नाटक का उत्तरदायित्व है। यथार्थवादी नाटककारों का यही तर्क है। एबरक्रांबी ने स्वीकार कर लिया है कि सामाजिक समस्याओं से उलझना गद्य-नाटक का ही काम है *। लेकिन मेरा विश्वास है कि सामाजिक समस्याओं से जूझने का काम काव्य-नाटक भी कर सकता है, और राग-प्रधान होने के कारण, उन्हें जितनी मार्मिकता के साथ वह उपस्थित कर सकता है, वह गद्य-नाटक के लिए कठिन है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य बौद्धिक कम, संवेदनशील अधिक है। हम अपनी बुद्धि के द्वारा किसी व्यक्ति को अपने पक्ष का औचित्य समझा सकते हैं, लेकिन जब उसे प्रभावित करने का प्रश्न आता है, तब हमें हार्दिकता की ही शरण लेनी होगी। साथ ही इस बात पर ध्यान देना है कि कोई भी व्यक्ति किसीके तर्क सुनने के लिए, किसीके पक्ष का औचित्य समझने के लिए नाटक देखना या सुनना नहीं

* "Now-a-days, in dramatic practice, at any rate, if not in aesthetic theory, criticism of life is taken in hand in a determinedly practical and rationalistic fashion. Well, I am quite willing to leave this region to the exploration of prose drama." ('The function of poetry in the Drama')

चाहता। उसे सबसे पहले रस-सृष्टि चाहिए, आनंद चाहिए, यदि अनजाने ही वह किसी पक्ष से प्रभावित हो जाए, तो उसे कोई आपत्ति नहीं होगी। यह काव्य-नाटक के द्वारा सरलता से हो सकता है।

यद्यपि काव्य-नाटक में मनुष्य का अंतर्जीवन प्रधान होता है, पर बिना बहिर्जीवन के अंतर्जीवन का अस्तित्व ही नहीं, यह ऊपर कहा जा चुका है। मनुष्य की भावनाओं का जन्म निर्जनता में अकस्मात् नहीं होता, वे तो सामाजिक परिस्थितियों की देन हैं। बिना सामाजिक पार्श्वभूमि का निर्माण किए मनुष्य के राग-विरागों का चित्र उपस्थित नहीं किया जा सकता। इसलिए सार्थक काव्य-नाटक में सामाजिक पृष्ठ-भूमि का चित्रण अनिवार्य हो उठता है। हमें काव्य-नाटकों में भावनाओं की तरलता ही नहीं, सामाजिक जीवन का कठिन संघर्ष भी चाहिए। मेरा विश्वास है कि अपनी चित्रमयता के बल पर काव्य-नाटक बड़ी सफलता से इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकता है।

चित्रमयता काव्य का अनिवार्य अंग है। उससे काव्य के सौंदर्य में वृद्धि तो होती ही है, उसकी शक्ति भी बढ़ जाती है। चित्र यथार्थ जगत् से हमारा परिचय कराते हैं। उनमें हमारा यथार्थ जीवन प्रतिविंवित होता है। जीवन के जिस क्रूर यथार्थ को हम प्रत्यक्ष रूप में देखने से हिचकते हैं, अथवा जिसे देखने का साहस हमारे पास नहीं होता, उसे कवि अपने काव्य के चित्रों में प्रतिविंबित कर हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। ये चित्र आकाश के सतरंगी बादलों से उतर कर काव्य में नहीं आते, बल्कि कवि अपने जीवन, अपने वातावरण, अपने सामाजिक परिवेश में जो कुछ देखता है, सुनता है, अनुभव करता है, उन्हीं की देन काव्य में चित्र बन कर अंकित हो जाती है, और चूँकि कवि अपने युग का विशेष संवेदनशील, विशेष शक्ति और प्रतिभा-संपन्न प्राणी होता है, वह अपने युग के उन सत्यों को भी देखता है, जिन्हें सामान्य व्यक्ति नहीं देख पाते। जब कवि अपने युग के जीवित सत्यों को अपने काव्य में व्यक्त करता है, तभी वह अपनी शक्ति का परिचय देता है, और उसकी कृति 'महान् कृति' की संज्ञा प्राप्त करती है। किसी भी महान् कृति में युग के जागृत यथार्थ का चित्रण अनिवार्य रूप से होता है, और जागृत यथार्थ के चित्रण के सबसे अच्छे साधन चित्र हैं। सिसिल डे लुइस का यही विचार है*। किन्तु यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि चित्रमयता काव्य

---

* "The image is a drawing-back from the actual, the better to come to grips with it. So every successful image is the sign of a successful encounter with the real." ('The Poetic Image'

में ही नहीं, गद्य में भी मिलती है और मिल सकती है। बात सही है, पर हमें यह याद रखना है कि विषय-वस्तु के साथ चित्रों का घनिष्ठ संबंध है। विषय-वस्तु के अनुरूप ही उसके चित्र होते हैं। चित्र गद्य में भी आते हैं, पर उनमें वह प्रभावोत्पादकता नहीं होती, जो काव्य के चित्रों में होती है, इसलिए कि भाषा की छंदोबद्धता, लयपूर्णता आदि के कारण वे अधिक तीव्र और प्रभविष्णु हो जाते हैं। इस संबंध में सिसिल डे लुइस का विचार उद्धृत किया जा सकता है : "यदि पद्य अभी भी काव्यात्मक चित्रों का सबसे अच्छा माध्यम है, तो वह इसलिए कि अपनी रूपगत सीमाओं और आकृति की विशेषता के कारण, पद्य चित्र-समष्टि में अधिक तीव्रता, अधिक स्पष्ट ध्वनियों, अधिक जटिल संबंधों की सृष्टि कर सकता है।" लुइस ने यह भी कहा है कि चित्रात्मकता के लिए सबसे अधिक अवकाश काव्य-नाटकों तथा कथात्मक काव्यों में है। काव्य-नाटकोंमें एक सुव्यवस्थित कथा-वस्तु होती है,अनेक पात्र होते हैं। पात्रों को सामाजिक परिपार्श्व में खड़ा करके उनके पारस्परिक संबंध, उनके राग-विरागों का अंकन तो किया ही जा सकता है, चित्रात्मकता के द्वारा सामाजिक यथार्थ का चित्रण भी सरलता से किया जा सकता है।

काव्य-नाटकों के महत्त्व का विचार एक और दृष्टि से किया जा सकता है। यह कविता का ह्रास-युग कहा जाता है। सब ने इसे स्वीकार किया है कि किसी भी साहित्य का सामान्य पाठक आज कविता नहीं पढ़ना चाहता। कविता की लोक-प्रियता क्यों समाप्त हो रही है, इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिए जाते हैं। कहा जाता है कि आज का युग बौद्धिक हो गया है, सामान्य व्यक्ति की कल्पना-शक्ति और संवेदनीयता क्षीण हो गयी है, जीवन का संघर्ष तीव्र हो गया है, सामान्य व्यक्ति के जीवन में कविता के लिए अवकाश नहीं रह गया है। इस प्रकार के अनेक उत्तर दिए जाते हैं, लेकिन सत्य यह है कि आज की पूँजीवादी व्यवस्था ने मनुष्य को व्यक्तिवादी बना दिया है, कविता में व्यक्तिवाद का स्वर प्रधान हो गया है, जन-समाज के जीवन से उसका संबंध छूट गया है। लोकप्रिय वही कविता हो सकती है, जिसके स्वरों में जन-समाज अपने प्राणों की गूँज सुने। पर आज बात ऐसी नहीं है। कॉडवेल के शब्दों में "आधुनिक कविता, जीवन से, वास्तविक सामाजिक तत्त्वों से रहित होती जाती है, और कविता द्वारा प्रयुक्त शब्द-मूल्य तब तक क्रमशः अधिक व्यक्तिगत होते जाते हैं, जब तक कविता पूर्णतः दुरूह और व्यक्तिगत नहीं हो जाती। यही कारण है कि बुर्जुआ सभ्यता के अधिकांश लोगों को कविता ग्राह्य नहीं हो सकी।' इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि

difficult or irrelevant. Thus the mere sight of verse on the page (like a menu printed in French) is enough to frighten him off. Verse however, when coming out of his radio set, will not strike him at least not too aggressively—as verse '. इसका कारण यह बतलाया जा सकता है कि जीवन की जिस तीव्र स्थिति की कल्पना काव्य-नाटक में की जाती है, उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति छन्दोमय-लयपूर्ण भाषा में ही हो सकती है। उस स्थिति एवं छन्दोमय भाषा में पूर्ण सामंजस्य बना रहता है, विषय-वस्तु और स्वरूप-विधान—दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उनका सामूहिक प्रभाव श्रोता पर इस प्रकार पड़ता है (नहीं पड़ता है, तो पड़ना चाहिए--यही काव्य-नाटक की सफलता है) कि माध्यम की ओर उसका ध्यान नहीं जाता।

जैसा ऊपर कहा गया, रेडियो-काव्य-नाटक के माध्यम से कलाकार कविता को जन-सामान्य तक पहुँचा सकता है, किंतु जन-सामान्य शिक्षित एवं संस्कृत नहीं है, उसका मानसिक स्तर अभी ऊपर नहीं उठ सका है। ऐसी परिस्थिति में कुछ लोग सोच सकते हैं कि यदि कलाकार अपनी कृति को जनसाधारण तक पहुँचाना चाहता है, तो उसे साहित्यिकता के उच्च धरातल से नीचे उतरना होगा, पर बात ऐसी नहीं है। यह सत्य है कि सामान्य जनता शिक्षित नहीं है, उसने बड़े-बड़े शास्त्रों और विज्ञानों का अध्ययन नहीं किया है, वह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद की जटिल गुत्थियों को नहीं सुलझा सकती, लेकिन इससे भी बड़ा सत्य यह है कि वह संवेदनशील है, उल्लास में हँसती है, अवसाद में रोती है, फलतः मनुष्य की भावनाओं, उसके रागात्मक सत्यों द्वारा प्रभावित और आंदोलित की जा सकती है। जो साहित्य इन रागात्मक सत्यों को अपना आधार बनाता है, वह जन-जन के हृदय का स्पर्श करता है। साहित्य का यही कार्य है। वह विशेषज्ञों के लिए नहीं, सर्वसाधारण के लिए होता है। यह तथ्य साहित्य के दूसरे स्वरूप-विधानों के लिए तो सत्य है ही, नाटकों के लिए विशेष रूप से सत्य है, क्योंकि अक्षरों से अपरिचित व्यक्ति भी नाटक सुनकर उससे आनंद प्राप्त करते हैं। इसीलिए नाटक को साहित्य का जनतंत्रात्मक स्वरूप कहा जाता है। हेनरी ग्रैनविल बार्कर के शब्दों में नाटक 'Everyman's Art' (सबकी कला) है। अतः यदि कोई कवि काव्य-नाटक के माध्यम से जन-समाज तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, तो वह साहित्यिकता और कलात्मकता के उच्च धरातल से नीचे नहीं उतरता, बल्कि सर्वसाधारण तक पहुँच कर साहित्य की सार्थकता सिद्ध करता है।

'The art of printing has done much to dull our literary perceptions. Words have a double virtue—that which resides in the sense and that which resides in the sound. We miss much of the charm if the eye is made to do duty also for the ear.' यही कारण है कि आज कवि अपनी वाणी को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए तरह-तरह के प्रयोग कर रहे हैं। 'अज्ञेय' जी के शब्दों में—'भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइपों से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से--सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' इन पंक्तियों से काव्य के केवल लिखित स्वरूप पर ध्यान रखनेवाले कवि की उलझनें और कठिनाइयाँ समझी जा सकती हैं, साथ ही प्रयोगों के औचित्य का समर्थन भी किया जा सकता है। यद्यपि यह देखते हुए कि इन प्रयोगों के बावजूद कविता लोकप्रिय होने के बदले और भी दुरूह एवं जन-समाज से विच्छिन्न होती जा रही है, तथापि यह कहा जा सकता है कि तथाकथित प्रयोगों की दिशा ग़लत है, और रेडियो-प्रसरण के विकास से कविता अपने प्रारंभिक गुणों को पुनः प्राप्त कर सकती है। कवि लुई मैकनीस ने लिखा है—Few of us would agree with the youthful years that 'Words alone are certain good,' but the goodness of words-as-spoken-and-heard is something that radio has restored to us in an age when even some of our poets write as if they were deaf mutes. यह कथन सत्य है, और काव्य-नाटक में इसके लिए अधिक अवकाश है, क्योंकि रेडियो-काव्य-नाटकों के प्रस्तुतकर्त्ता एवं अभिनेता प्रयत्न करते हैं कि पात्रों की भावनाओं को अधिकाधिक सफलता से व्यंजित कर सकें।

इस दृष्टि से, आज जब कविता अपनी लोकप्रियता खो रही है, रेडियो-काव्य-नाटकों का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कविता का ह्रास-युग कहा जाता है, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया, आज की कविता दुरूह और नीरस होती जा रही है; किंतु यह बात लिखित कविता के ही संबंध में सत्य है। रेडियो से प्रसारित काव्य श्रोताओं को अधिक नहीं खटकेगा। लुई मैकनीस के शब्दों में—'He (modern public) may dislike the idea of poetry but that is because he has been conditioned to think of poetry as something too tissy, infantile,

difficult or irrelevant. Thus the mere sight of verse on the page (like a menu printed in French) is enough to frighten him off. Verse however, when coming out of his radio set, will not strike him at least not too aggressively—as verse '. इसका कारण यह बतलाया जा सकता है कि जीवन की जिस तीव्र स्थिति की कल्पना काव्य-नाटक में की जाती है, उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति छन्दोमय-लयपूर्ण भाषा में ही हो सकती है । उस स्थिति एवं छन्दोमय भाषा में पूर्ण सामंजस्य बना रहता है, विषय-वस्तु और स्वरूप-विधान—दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उनका सामूहिक प्रभाव श्रोता पर इस प्रकार पड़ता है (नहीं पड़ता है, तो पड़ना चाहिए--यही काव्य-नाटक की सफलता है) कि माध्यम की ओर उसका ध्यान नहीं जाता ।

जैसा ऊपर कहा गया, रेडियो-काव्य-नाटक के माध्यम से कलाकार कविता को जन-सामान्य तक पहुँचा सकता है, किंतु जन-सामान्य शिक्षित एवं संस्कृत नहीं है, उसका मानसिक स्तर अभी ऊपर नहीं उठ सका है । ऐसी परिस्थिति में कुछ लोग सोच सकते हैं कि यदि कलाकार अपनी कृति को जनसाधारण तक पहुँचाना चाहता है, तो उसे साहित्यिकता के उच्च धरातल से नीचे उतरना होगा, पर बात ऐसी नहीं है । यह सत्य है कि सामान्य जनता शिक्षित नहीं है, उसने बड़े-बड़े शास्त्रों और विज्ञानों का अध्ययन नहीं किया है, वह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद की जटिल गुत्थियों को नहीं सुलझा सकती, लेकिन इससे भी बड़ा सत्य यह है कि वह संवेदनशील है, उल्लास में हँसती है, अवसाद में रोती है, फलतः मनुष्य की भावनाओं, उसके रागात्मक सत्यों द्वारा प्रभावित और आंदोलित की जा सकती है । जो साहित्य इन रागात्मक सत्यों को अपना आधार बनाता है, वह जन-जन के हृदय का स्पर्श करता है । साहित्य का यही कार्य है । वह विशेषज्ञों के लिए नहीं, सर्वसाधारण के लिए होता है । यह तथ्य साहित्य के दूसरे स्वरूप-विधानों के लिए तो सत्य है ही, नाटकों के लिए विशेष रूप से सत्य है, क्योंकि अक्षरों से अपरिचित व्यक्ति भी नाटक सुनकर उससे आनंद प्राप्त करते हैं । इसीलिए नाटक को साहित्य का जनतंत्रात्मक स्वरूप कहा जाता है । हेनरी ग्रैनविल बार्कर के शब्दों में नाटक 'Everyman's Art' (सबकी कला) है । अतः यदि कोई कवि काव्य-नाटक के माध्यम से जन-समाज तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, तो वह साहित्यिकता और कलात्मकता के उच्च धरातल से नीचे नहीं उतरता, बल्कि सर्वसाधारण तक पहुँच कर साहित्य की सार्थकता सिद्ध करता है ।

हां, इसके लिए कवि को ऐसे स्तर पर अपनी भाषा को रखना होगा कि वह सर्वसाधारण के लिए भी बोधगम्य हो सके। प्रेषणीयता का सबसे बड़ा साधन भाषा ही है, और उसका उचित उपयोग करना कलाकार का काम है। आज हिंदी में अधिक रेडियो-काव्य-नाटक जैसी भाषा में लिखे जा रहे हैं, उससे यही ज्ञात होता है कि उनके रचयिता उसे सर्वसाधारण के लिए न लिखकर केवल साहित्यिकों के लिए लिखते हैं। किंतु रेडियो से प्रसारित गद्य-नाटकों की तरह काव्य-नाटकों को भी लोकप्रिय बनाना है, तो भाषा की समस्या पर कलाकारों का ध्यान जाना चाहिए।

रेडियो-काव्य-नाटक ने अत्याधुनिक कविता को श्रव्य होने की सुविधा प्रदान की है, इसका यह अर्थ नहीं कि रेडियो द्वारा प्रसारित काव्य-नाटक में काव्य मात्र ही है। काव्यत्व और नाटकत्व के सहयोग से ही काव्य-नाटक की सृष्टि होती है। नाटक-तत्त्व इसका बाह्य स्वरूप निर्मित करता है, काव्य-तत्त्व इसमें आत्मा की स्थापना करता है। नाटक-तत्त्व कथानक का निर्माण करता है, घटनाएँ देता है, संघर्ष देता है, पात्रोंकी सृष्टि करता है,और काव्य-तत्त्व इसमे अनुभूतियों का दान देता है। हिंदी में लिखित अधिकांश रेडियो-काव्य-नाटकों में इस विशेषता का नितांत अभाव रहता है। यह विशेषता तभी आ सकती है, जब गद्य-नाटकों की भाँति ही काव्य-नाटकों में सुसंबद्ध कथानक रहे।

सुसंबद्ध कथानक रेडियो-काव्य-नाटक की पहली अनिवार्यता है। समूचा कथानक एक निश्चित केंद्र, एक निश्चित विषय-वस्तु, घटना या समस्या पर आधारित होना चाहिए। तभी काव्य-नाटक में प्रभावोत्पादकता आ सकेगी। विशृंखल कथानक श्रोता के मन को प्रभावित नहीं कर सकेगा, क्योंकि स्वयं उसमें ही किसी निश्चित दिशा और प्रभाव का अभाव रहेगा। यह काव्य-नाटक की असफलता कही जायगी। एक काव्य-नाटक में एक ही नाटकीय प्रभाव का रहना अनिवार्य है।

नाटकीय प्रभाव की सृष्टि के लिए रेडियो-काव्य-नाटक के लेखकों को विशेष कुशलता बरतनी पड़ती है, विशेष कुशलता इसलिए कि रेडियो-काव्य-नाटकों की कुछ अपनी सीमाएँ हैं। रेडियो-काव्य-नाटकों की अवधि अन्य रेडियो-नाटकों की भाँति ही सीमित होती है। उसके पात्र, घटनाएँ, दृश्य आदि सब अदृश्य रहते हैं। केवल ध्वनियों (जिनके अंतर्गत

संलाप, ध्वनि-प्रभाव और वाद्य-संगीत आते हैं) के सहारे वातावरण का निर्माण करना पड़ता है, घटनाओं का विवरण देना होता है, पात्रों की वैयक्तिकता स्थापित करनी होती है। श्रोता नाटकों को केवल सुनकर ही आनंद प्राप्त करते हैं। अतः दृश्यों का नियोजन, पात्रों का संलाप, कथानक का विकास, सबका ऐसा होना अनिवार्य है कि श्रोता किसी प्रकार की उलझन में न पड़े, कथानक का क्रमिक विकास समझता जाय, पात्रों की विशेषताओं से परिचित होता रहे। इन सब कामों को केवल ध्वनियों के द्वारा ही करना पड़ता है। इसीलिए रेडियो-काव्य-नाटक की कला कुछ कठिन ज्ञात होती है।

हिंदी में रेडियो-काव्य-नाटक का कार्य अभी प्रारंभ ही हुआ है। यद्यपि स्थिति अभी संतोषजनक नहीं है, तथापि अनेक प्रतिभाशाली कलाकार इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। आशा की जा सकती है कि हिंदी में भी रेडियो-काव्य-नाटक शीघ्र ही साहित्य का एक स्वस्थ एवं सशक्त माध्यम बन सकेगा और जन-समाज से विच्छिन्न होती हुई ह्रासोन्मुख अत्याधुनिक हिंदी-कविता का एक नई दिशा देकर उसकी रक्षा करने में समर्थ होगा।

यह तो हुई काव्य-नाटकों की सैद्धान्तिक चर्चा! मैं अपने नाटकों के संबंध में क्या कहूँ? मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि युग की वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति के लिए काव्य-नाटक का माध्यम मुझे बहुत उचित जँचता है। मैंने इस दिशा में कुछ प्रयोग किए हैं। इनकी सफलता-असफलता का निर्णय तो आलोचक ही कर सकेंगे।

'कवि' में मैंने काल्पनिकता पर वास्तविकता की विजय प्रदर्शित की थी। प्रस्तुत संग्रह के काव्य-नाटकों में मैंने युग की वास्तविकता को उतारने का प्रयत्न किया है।

ये काव्य-नाटक रंगमंच के लिए नहीं, रेडियो के लिए लिखे गए हैं, और ऑल इंडिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से कई बार प्रसारित हो चुके हैं। जिन प्रस्तुतकर्त्ताओं और रेडियो-अभिनेताओं ने समय-समय पर अपने परिश्रम द्वारा इनमें प्राण-प्रतिष्ठा की, उन्हें हार्दिक धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

रेडियो-नाटकों में दृश्य-संकेतों की आवश्यकता नहीं होती। उनमें साधन श्रव्य होते हैं, लेखक द्वारा श्रव्य-संकेत ही दे देना पर्याप्त होता है। यही कारण है कि प्रस्तुत नाटकों में केवल श्रव्य-संकेत मिलेंगे।

प्रस्तुत नाटकों में रेडियो-टेकनीक में उपलब्ध सुविधाओं का अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयत्न किया गया है। रेडियो-नाटक लिखने के आकांक्षी जो व्यक्ति लेखक की पुस्तक 'रेडियो-नाटक : सिद्धान्त और प्रयोग' पढ़ेंगे, उनके लिए, आशा है, प्रस्तुत रेडियो-काव्य-नाटक उदाहरण का काम करेंगे।

आदरणीय बेनीपुरी जी ने अपने व्यस्त जीवन से कुछ क्षण निकाल कर 'आशीर्वाद' देने की जो कृपा की है, वह लेखक के प्रति उनका सहज स्नेह है। यह स्नेह सदा उनसे मिलता रहा है, और आशा है, सदा मिलता रहेगा। लेखक उसके प्रति नतमस्तक है।

जिन विद्वानों के निबंधों से लेखक ने उनकी बहुमूल्य सम्मतियाँ उद्धृत की हैं, वह उनका अत्यंत आभारी है।

पटना — सिद्धनाथ कुमार

११ दिसंबर १९५४

*

अपने अभिन्न

रामसिंहासन 'उन्मुक्त' को

सृष्टि की साँझ

और

अन्य काव्य-नाटक

अनुक्रम

		पृष्ठ
१	सृष्टि की साँझ	१
२	लौहदेवता	४६
३	संघर्ष	७५
४	विकलांगों का देश	१०१
५	बादलों का शाप	१३६

सृष्टि की साँझ

'युद्ध क्यों ?'···उत्तर मिलता है, 'शान्ति के लिए।' लेकिन फिर युद्ध होते हैं, महायुद्ध होते हैं। युद्धों की शृङ्खला कभी टूटती नहीं। प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हुआ, और फिर शीघ्र ही विश्व-शान्ति एवं मानवीय अधिकारों के लिए द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारंभ हुआ। वह भी समाप्त हुआ, और फिर नए-नए विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण होने लगा है। संसार के आकाश में तृतीय विश्व-युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं। लगता है, जैसे शान्ति के नाम पर फिर महायुद्ध होगा। लेकिन, क्या तृतीय विश्व-युद्ध के बाद संसार में अक्षय शान्ति स्थापित हो जाएगी? क्या फिर कभी युद्ध नहीं होंगे? आखिर, युद्ध होते ही क्यों हैं? उनका समाधान क्या है?— 'सृष्टि की साँझ' काव्य-नाटक इन्हीं प्रश्नों पर आधारित है।

[तृतीय विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका है। परमाणु-युद्ध के फलस्वरूप धरती श्मशान बन गई है। चारों ओर मृत्यु की भयानक शांति है। दृश्य वाद्य-संगीत से प्रारंभ होता है।]

सेनानायक (ज़ोर की हँसी)

अजय अट्टहास क्यों सेनानायक ?

सेनानायक अट्टहास क्यों ?
इसे छोड़ कर
अट्टहास का और कौन-सा अवसर होगा ?
महामात्य !
सुन रहे इसे तुम ?
पूछ रहा है अजय,
आज यह अट्टहास क्यों ?
अट्टहास का और कौन-सा अवसर होगा ?
महासमर हो चुका शांत,
मिल गई विजय,
मिल गई शांति ।
ओ महामात्य,
ओ वीर अजय,
खुल कर तो एक बार हँस लो ।

सेनानायक और महामात्य (हँसी)

अजय अब बन्द करो यह अट्टहास ।
सेनानायक,
क्या लज्जा तुम्हें नहीं आती
असमय में यों खुल कर हँसते ?

सेनानायक असमय कैसा ?

यह तो मंगल का महापर्व,
जय का क्षण है !
हम महासमर से
विजयी होकर निकले हैं !
हमने जग की कुरीतियों,
अत्याचारों, पापों, कलुषों का है हनन किया।
हम विश्वजयी,
आदर्श व्यक्ति,
जग के आदर्शों की रक्षा की है हमने।

महामात्य सच कहते हो सेनानायक !
हम आदर्शों के रक्षक हैं !
आदर्शों की रक्षा के हित
हमने तन, मन, जीवन अपने
इस महासमर की
तीक्ष्ण धार पर रक्खे थे !
हम नहीं चाहते थे,
जग में उत्पात रहे,
संघर्ष रहे,
मानव-मानव में घृणा, भेद, मालिन्य रहे !
हम शांति चाहनेवाले हैं,
बस शांति-हेतु ही तो हमने
परमाणु-बमों की धारा से
धो दिया विश्व की धरती को।
धुल गए पाप, विद्वेष, घृणा।
अब धरती पर
सुख, श्री, समता
औ' अक्षय शांति विराजेगी।

अजय (व्यंग्य की हल्की हँसी हँसते हुए)

तुम शांति चाहनेवाले हो !
यह क्षणिक विजय-उन्माद
कर रहा तुम दोनों को चक्षु-हीन !
आवरण विजय का
पड़ा हुआ है आँखों पर,
तुम देख नहीं सकते पलभर
मूर्च्छित हुई इस धरती को।
इसका सुहाग जल गया
समर की लपटों में !
सुख-वैभव बिखर गए श्मशान की धूलों में।
तुम आँखें खोल ज़रा देखो,
कालिख पुत गई दिशाओं में !
उठ रहा धुआँ
पेरिस, लंदन, याकोहामा,
टोकियो नगर की
बुझती हुई चिताओं से !
ये न्यूयार्क, मास्को-जैसे समृद्ध नगर
जल रहे अभी भी धू-धू कर !
उड़ती कैसी दुर्गंधि, आह !
कैसी सड़ाँध !
दो-चार नहीं, दस-बीस नहीं,
जल रहे धरा के सभी जीव,
ये कई खर्व !
कंकाल ढेर के ढेर
धरा पर बिखरे हैं।
लगता जैसे,

सारी दुनिया मरघट बन
आज कराह रही।
हो गई धरा की सृष्टि शेष !
सेनानायक,
बस शेष तुम्हीं हो, मैं हूँ,
हैं ये महामात्य,
औ' केवल नारी रेखा है,
धरती की दीन दशा पर
अपने आहत अश्रु बहाने को

सेनानायक बस शेष बचे हैं
केवल अश्रु बहाने को ?
विजयी भी अश्रु बहाते हैं ?
क्यों अजय,
मुझे था ज्ञात नहीं,
तुम इतने कायर, दुर्बल हो !

अजय मैं दुर्बल हूँ सेनानायक !
मैं दुर्बल हूँ !
मेरा अंतर हो रहा विकल
वसुधा का यह विध्वंस देख !
मैं देख नहीं सकता पलभर
क्षत-विक्षत, आहत, मृतप्राय
इस धरती को।
मैं देख नहीं सकता
जग के गौरव नगराज हिमालय को
यों फूट-फूट प्रतिपल रोते,
हैं मचल रहे उसके मन में
गत के वैभव, ऐश्वर्य,

विगत के स्वप्न, मनोहारीस्मृतियाँ !
हैं आल्पस और विंध्या भी
सिसक रहे क्षण-क्षण।
सेनानायक,
कह रहा सत्य,
मैं नहीं देख सकता,
शंकर की गंगा को,
गेटे की राइन को,
यों घुट-घुट कर साँसें लेते !
डैन्यूब, सिंधु, मीसीसीपी
अपने अतीत को जगा-जगा
आँसू बरसाती जाती हैं।
ओ महामात्य,
मेरा अन्तर भी इन्हें देखकर
चीत्कार कर उठता है।

महामात्य जब रोना ही था
तुम्हें विजय के शुभ क्षण में,
जब हँसते हुए विजय के कोमल फूलों को
आँसू से तुम्हें भिगोना था,
तो फिर क्यों तुमने युद्ध किया ?
क्यों साथ दिया
मेरा औ' सेनानायक का ?

अजय मैं अंधा था !
मेरे विवेक के नयन
मुँद गए थे उस क्षण।
था घेरे मुझको
चारों दिशि से अंधकार !

निज मलिन स्वार्थ का अंधकार !
मैं यही चाहता था,
बस मैं ही सुखी रहूँ,
सबके सुख को
मैं आत्मसात कर लूँ पल में !
था मेरा अहम् सदा
मुझसे कहता रहता,
केवल मैं ही हूँ सत्य,
और सब मिथ्या हैं।
मैं जो कुछ सोच रहा हूँ,
जो कुछ करता हूँ,
हैं वही सत्य,
औरों के कर्म, विचार
मात्र भ्रम हैं, मिथ्या हैं, निराधार !
मैं यही चाहता था,
सब मेरी राह चलें,
मेरे विचार ही अपनाएँ,
मेरे पदचिह्नों पर आएँ।
मुझमें थी नहीं उदार दृष्टि,
मैं देख सकूँ,
औरों के कर्म, विचार सत्य हो सकते हैं !
बस इसीलिए
जब मेरे प्रतिद्वन्द्वी ने
मेरे सत्य विचार नहीं माने,
मैंने समझा अपमान उसे।
जग गई घृणा की आग,
जगा विद्वेष,

जगी ईर्ष्या तीखी।
पागल, विक्षुब्ध हो गया मैं।
चुक गई बुद्धि की ज्योति,
सो गए सभी देव।
जग उठे हृदय में
अगणित पशु—हिंसालु, क्रूर!
आ मिला उसी क्षण मैं तुमसे,
थे क्योंकि
तुम्हारे अंतर में भी
कितने पशु जग चुके हिंस्र।

सेनानायक कह चुके बहुत,
हो शांत अजय!
तुम कहते हो,
मैं पशु हूँ,
पशु हैं महामात्य!
अपमान मत करो और अधिक।
हम आदर्शों के प्रेमी हैं,
हम आदर्शों के संरक्षक।
हमने देखा,
आदर्श हो रहे हैं वंदी
अत्याचारों की कारा में।
घुट रही साँस आदर्शों की,
मिट रहे सभी आदर्श
हमारे प्रतिद्वन्द्वी के हाथों से।
हमने सोचा,
आदर्श अगर मिट जाएँगे,
मानवता तब कैसे जीवित रह पाएगी?

मानवता की आशा हैं केवल सत्य, प्रेम।
मानवता के संबल हैं केवल न्याय, क्षमा।
हमने देखा,
हैं शत्रु हमारे
भस्म कर रहे इन सबको
अपने स्वार्थों की ज्वाला से।
मानवता प्रतिपल झुलस-झुलस
है चीख रही।
हमने उसकी रक्षा के हित
यह महाभयंकर युद्ध किया।
मानवता इससे विजयिनि
बन कर निकली है।
क्यों महामात्य ?

महामात्य सच कहते हो सेनानायक !
संसार हो चुका था वंदी
प्राचीन रूढ़ि की कड़ियों में,
प्राचीन व्यवस्थाएँ थीं
सब हो चुकी जीर्ण,
मानवता का विकास था
उसमें रुद्ध हुआ।
जो कुछ हम सब थे देख रहे,
थे गलित, भ्रष्ट,
मानवता उनमें पड़ी
हिचकियाँ लेती थी।
हमने अपने परमाणु बमों की ज्वाला से
उस नष्टप्राय प्राचीन विश्व को जला दिया
प्राचीन सृष्टि हो गई भस्म,

अब नई सृष्टि
इस जली राख से निकलेगी।
हम नई सृष्टि को
गढ़नेवाले मानव हैं।
संसार करेगा हमें याद
निज प्रलय-काल की सीमा तक।
इतिहासों में अंकित होंगे
हम स्वर्णमयी रेखाओं में!

अजय लेकिन इतिहास कहाँ है अब?
वह भी तो है हो चुका भस्म।
आदर्शों के प्रेमी
आदर्श व्यक्तियों ने
मानवता की रक्षा के हित
उसको भी तो कर दिया राख!
हो गया राख इतिहास,
हो गई राख मनुजता की गाथा।
हो गए राख वेदों के अनुपम पुण्य श्लोक,
हो गए राख इलियड, ओडेसी, रामायण।
खो गई महाकवि वाल्मीकि,
होमर की वाणी
महाशून्य की भाषा में।
हो गए महाकवि शेक्सपियर,
तुलसी, मिल्टन हतवाक्, मौन।
सो गए सदा को
कालिदास, भारवि महान्।
मानव-मन की भाषा
सचमुच चुप हुई आज,

मानव की स्मृतियाँ, स्वप्न,
सभी जल क्षार हुए।
आशा-अभिलाषाएँ
घुट कर जल मरीं, आह!
अब नहीं युद्ध मे
जली हुई इस धरती पर
ईसा, गौतम
अमृत के कण बरसाएँगे।
अब नहीं मूर्च्छिता धरती को
पैगंबर, गाँधी
अपनी सुधा पिलाएँगे।
धरणी!
तू आह! अभागिन है,
रो ले जी भर।
है यही भाग्य में लिखा हुआ!

सेनानायक चुप रहो अजय!
धरती यह रोएगी क्यों कर?
इतिहास भ म हो गया,
हो गए सभी क्षार,
हो गई राख मानवता की पूरी गाथा,
लेकिन इतिहास बनानेवाले
मानव तो हैं अभी शेष।
मैं हूँ, तुम हो, हैं महामात्य,
औ' रेखा है,
हम सब मिलकर
इतिहास नया गढ़ सकते हैं।
जब पहली सृष्टि बनी थी,

सृष्टि की साँझ

तब थे मनु-श्रद्धा, केवल दो ही,
उनसे ही सृष्टि-विकास हुआ।
हम तो हैं अब भी चार शेष,
अब भी धरणी की आशाएँ
निःशेष कहाँ हो पाई हैं ?
मेरी धरणी,
मत हो निराश,
मत हो हताश !
हो गया युद्ध अब शांत,
तुम्हारा नव शृंगार करेंगे हम।

महामात्य सेनानायक,
सच कहते हो।
प्राचीन विश्व था नरक,
इसे हम नूतन स्वर्ग बनाएँगे।
आदर्श सृष्टि निर्मित होगी इस धरती पर।
मानव-मानव में कोई भेद नहीं होगा,
समता का अक्षय राज्य
यहाँ स्थापित होगा,
सब नर-नारी होंगे समान।
सबको होगा अधिकार,
स्वयं सुख से विचरें इस धरती पर,
सब हों स्वतंत्र
निज कर्म, वचन औ' चिंतन में।
सबकी पलकों में पलें स्वप्न,
जागें मन में नव आशाएँ रंगीन, सुभग,
उन स्वप्नों, आशाओं पर अब
कोई आघात नहीं होगा।

यह नई सृष्टि होगी स्वतंत्र ।
मानव का मानव पर न क्रूर शासन होगा,
मानव द्वारा मानव न यहाँ शोषित होगा,
शोषण, उत्पीड़न, घृणा, कलह से
भरी हुई प्राचीन सृष्टि
हो गई ध्वस्त ।
यह नई सृष्टि,
मानवता की जाग्रत प्रतिमा !
अधरों पर स्मिति,
पलकों में आर्द्र बनी करुणा,
मुख पर नवजीवन की आशा,
मुख की रेखाओं में जगती
कोमलता मन की, दया, क्षमा, औ' प्रेम-भरी ।
क्या इसे न सकते देख अजय ?

अजय मैं देख रहा हूँ महामात्य !
मैं देख रहा हूँ नई सृष्टि ।
जाने, यह भी कैसी होगी !
लेकिन, उनको,
जो चले गए हैं,
कभी न लौटा पाएगी ।
जो भस्म हो गए
महासमर की लपटों में,
फिर उन्हें न जग में लाएगी ।
अब वायुयान इस शून्य व्योम में
नहीं कभी घहराएँगे ।
आदम के बेटे
धरती पर ही रेंगेंगे,

सृष्टि की साँझ

नभ के पंछी निज पर फैला
कुछ गीत व्यंग्य के गाएँगे।
फिर काल-स्थान की सीमाएँ
मानव को वंदी कर लेंगी।
मिट गए रेडियो, रेल, तार, जलयान, फोन,
हैं कहीं-कहीं केवल उनकी अस्थियाँ शेष !
सेनानायक,
देखो इनको,
ये अट्टहास कर रहीं
मनुज की दुर्बलताओं पर खुल कर !
सम्राट् धरा का,
आसमान का, सर-सरिताओं, सागर का,
पर्वत, उपत्यकाओं का,
फिर हो गया दीन।
सम्राट् प्रकृति का
आज प्रकृति के सम्मुख एक भिखारी है।
नभ आज कर रहा अट्टहास,
फिर लगे गरजने
अभिमानी सातों समुद्र,
निस्सीम काल,
निस्सीम वायुमंडल
सब हैं हँस रहे आज !

सेनानायक तुम क्या पागल हो गए अजय ?
यह प्रकृति हंस रही, हँसने दो,
सागर हँसते हैं, हंसने दो,
पर्वत हँसते हैं, हँसने दो
आकाश हँस रहा, हँसने दो,

कह दो उनसे,
आदम का बेटा
अभी धरा पर जीवित है।
आदम के बेटे ने ही
उनको जीता था,
वह अभी पराजित
फिर उनको कर सकता है।
हम सतत जूझते आए हैं,
पर बुद्धि हमारी
नहीं पराजित हुई कभी।
हम प्रकृति-संग
संघर्ष-निरत होंगे फिर से,
हम फिर से उसे हराएँगे,
आविष्कृत कर लेंगे फिर नए-नए साधन।
फिर वायुयान, जलयान, रेडियो, फोन
सभी बन जाएँगे।
फिर काल-स्थान की
कठिन शृंखला टूटेगी,
सम्राट् बनेगा मानव फिर से जगती का।

अजय सम्राट् बनोगे तुम फिर से,
पर रिक्त रहेगा कोष तुम्हारा युग-युग तक।
आविष्कृत कर लोगे
तुम नए-नए साधन,
लेकिन बोलो,
लौटा लाओगे
क्या तुम अपना ताजमहल ?
वह ताजमहल,

जिसके प्रस्तर-प्रस्तर में
मानव-जीवन की
कुछ करुण कथाएँ अंकित थीं।
तुम निर्मित कर लोगे फिर से
नभयान, फोन,
लेकिन क्या लौटा पाओगे
निज पिरामीड,
हैंगिंग गार्डेन,
एलोरा और अजंता के
पत्थर में अंकित कविताएँ ?
सब कुछ कर लोगे,
लौट न पाएँगे
मनुष्य के काव्य, चित्र, संगीत,
कला-कृतियाँ अगणित।
मानव के दर्शन-ज्ञान
न फिर कर आएँगे।
युग-युग से संचित मानवता की
ज्ञान-राशि हो गई भस्म,
संपत्ति युग-युगों की संचित
पल भर में ही ले गया लूट
इस महासमर का क्रूर दस्यु !
क्यों महामात्य ?

महामात्य सच कहते हो।
लेकिन, जो चला गया,
उस पर
अब केवल अश्रु बहाने से ही होगा क्या ?
मानवता की सम्पत्ति

लुट गई है सचमुच,
सब नष्ट-भ्रष्ट हो गईं
कलाकृतियाँ अगणित !
लेकिन तुम उन्हें आँसुओं से
अब कभी न लौटा पाओगे।
आँसू मनुष्य की दुर्बलता के सूचक हैं !
आँसू मनुष्य की निर्धनता के परिचायक !
आँसू मनुष्य की हार,
पराजय के स्मारक !
तुम उठो अजय,
मत हो हताश।
है माँग रहा निर्माण कर्म,
यह नई सृष्टि
माँगती कर्म का नया दान !

सेनानायक हाँ, महामात्य कह रहे सत्य।
तुम उठो अजय !
हम नई सृष्टि की नींव डालनेवाले हैं,
हम नई सृष्टि के आदिपुरुष !
सम्मिलित यत्न करके
जग को हम अनुपम स्वर्ग बना देवें।

अजय स्वीकार मुझे,
यद्यपि मेरे मन में
अतीत की स्मृतियाँ
उमड़ रहीं अब भी,
यद्यपि अतीत के विभव
कर रहे मुझे क्षुब्ध,
लेकिन भविष्य की आशा भी है जाग रही।

मेरे सपने भी हैं
मुझसे कह रहे यही,
मैं योगदान दूँ नई सृष्टि के रचने में।

सेनानायक रेखा है पर इस समय कहाँ ?

अजय मरघट के कोने में बैठी
शायद रो रही कहीं होगी।
शायद है उस को ज्ञात नहीं,
हम सब भी जग में जीवित हैं।

सेनानायक ओ महामात्य,
अब चलो,
न तनिक विलम्ब करो।
रेखा को देखें,
कहाँ, कर रही है वह क्या ?
रेखा ही तो
इस नई सृष्टि की आशा है !
अंतिम आशा !

[पृष्ठभूमि मे एक झंकार, जैसे पात्रों के मन से कोई बात टकरा गई हो

महामात्य अंतिम आशा !
रेखा ही तो इस नई सृष्टि की आशा है !
विश्राम करो तुम अजय,
जा रहे हम दोनों।

अजय विश्राम नहीं चाहिए,
चल रहा हूँ मैं भी।

सेनानायक अच्छा हो,
हम सब तीन दिशाओं में निकलें !
जाने,
रेखा किस ओर, कहाँ पर बैठी हो !

[वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्तन]

[पृष्ठभूमि में करुण-संगीत आरंभ होता है ।]

रेखा (धीरे-धीरे)

मैं देख रही हूँ यह सब क्या ?
निर्जनता !
भीषण नीरवता !
सब शांत, मौन !
कोई न कहीं !
मैं कौन ? कहाँ ?
किस अपर लोक से आई हूँ !
यह कौन लोक ?
यह तो विराट् मरघट !
विस्तृत निर्जन मसान !
जल-जल कर बुझी चिताए
बिखरी हैं असंख्य !
बस राख !
राख ही राख !
हड्डियाँ,
एक-दो नहीं, असंख्यक, आह !
मैं स्वप्न देखती हूँ क्या यह ?
मैं कौन ?
कहाँ पर आई हूँ ?
उफ् !
गूँज रही मेरे कानों में कैसी ध्वनि !

[रेखा की स्मृति में अतीत का एक दृश्य फिर जाता है। बहुत-से वायुयानों की आवाज़ सुनाई पड़ती है। भीड़ की आवाज़ आती है।]

एक पुरुष भागो ! भागो !
हो सावधान !

आ गए शत्रु के बम-वर्षक
विध्वंसक ऐटम बम लेकर !
अब अग्नि-पिंड
बरसेंगे अंबर से अगणित !
अपने-अपने रक्षा-गृह में
सब छिप जाओ !
हो सावधान !

रेखा — भीतर आओ मेरे प्रियतम !
ये वायुयान हैं घहर रहे !

दूसरा पुरुष — मैं अभी आ रहा हूँ रेखा !
प्यारा मधुकर
बाहर ही खेल रहा है,
उसको अभी पकड़ ले आता हूँ !

रेखा — जल्दी आओ,
जल्दी आओ मेरे प्रियतम !

[विस्फोट आदि की आवाज, फिर शांति । स्मृति-दृश्य समाप्त।]

रेखा — उफ् ! आह !
उमड़ने लगीं अभी कैसी स्मृतियाँ !
उफ् ! सर्वनाश हो गया,
हो गए सभी भस्म !
जल मरे धरा के सभी जीव,
बस एक अभागिन
शेष रही हूँ रोने को ।
मैं भी क्यों शेष रहूँ
इस निर्जन पृथ्वी पर ?
मैं भी क्यों जलकर
भस्म न हो जाऊँ पल में ?

वह राजमहल अब भी जलता है धू-धूकर,
उसकी रक्तिम लपटें हैं
मुझको बुला रही।
मैं चलूँ,
उसीमें जल जाऊँ !

अजय (दूर से) रेखा ! रेखा !

रेखा यह कौन मुझे है बुला रहा ?
क्या और कहीं
जग में है कोई शेष अभी ?
या किसी प्रेत की आत्मा
मुझको ढूँढ़ रही ?
मैं चलूँ, जल मरूँ शीघ्र वहाँ !

अजय (कुछ निकट आकर)
रेखा ! रेखा !

रेखा यह कौन रोकता है मुझको ?
यह कौन बढ़ा आ रहा
सामने द्रुतगति से !

अजय मैं हूँ रेखा !

रेखा तुम कौन ? अजय ?

अजय मैं कब से ढूँढ़ रहा तुमको।
थक गए चरण चलते-चलते।

रेखा यों दौड़-दौड़
क्या खोज रहे हो मरघट में ?

अजय मैं खोज रहा हूँ
नई सृष्टि की आशा को।

रेखा नई सृष्टि ? (अट्टहास)
यह नई सृष्टि

तुम देख रहे अपने सम्मुख !
तुम खोज रहे हो आशा को ? (अट्टहास)
क्या अब भी आशा
शेष बची है बुझती हुई चिताओं में ?

अजय
विक्षिप्त हो गई क्या रेखा ?
स्वाभाविक है !
आश्चर्यचकित मैं तो
सचमुच तब ही होता,
तुम अब भी शांत बनी रहती।
है ज्ञात मुझे, तुम नारी हो !
तुम नारी हो,
इस बृहत् सृष्टि की कोमलता का मूर्त्त रूप !
मानवता की सजीव प्रतिमा !
मानव के उर से उठनेवाले
स्निग्ध प्रेम की
चंचल उज्ज्वल दीप-शिखा !
तुम कैसे सह पाती, बोलो,
इस महासमर के भीषण झंझावातों को
अब महासमर हो गया शांत,
मत पागल हो मेरी रेखा !

रेखा
मैं पागल हूँ ! (अट्टहास)
तुम जागरूक चेतन प्राणी !
तुम देख रहे हो महाध्वंस इस जगती का !
तुम देख रहे हो,
प्रलय सामने हँसता है !
तुम देख रहे,
पृथ्वी की साँसें घुटती हैं !

ये सभी दिशाएँ आज सिसकियाँ भरती हैं !
उजली चाँदनी कफ़न-सी
जग के शव को आकर ढँकती है !
फिर भी अंतर में नहीं
तुम्हारे तनिक आर्द्रता जगती है,
फिर भी अंतर के तार न झंकृत होते हैं,
पलकों में आँसू
नहीं उमड़ कर आते हैं !
तुम जागरूक चेतन प्राणी !
मैं पागल हूँ,
मैं हूँ विक्षिप्त ! (अट्टहास)
मैं नारी हूँ !
मैं कोमल-हृदया नारी हूँ,
तुम पुरुष कठिन पाषाण-हृदय !
मैं मानवता की प्रतिमा हूँ
तुम पौरुष के,
पौरुष के नहीं
पाशविकता के मूर्त्त रूप !
हो दूर सामने से मेरे
पाषाण-हृदय ! पशु ! क्रूर दैत्य !

अजय मत हो अशांत मेरी रेखा !
मत हो अशांत !
सच कहती हो,
मैं था सचमुच पाषाण-हृदय,
पशु, क्रूर दैत्य !
मेरे स्वार्थों ने
मुझे बनाया था अंधा !

मुझ पर सचमुच
उन्माद छा गया था उस क्षण !
लेकिन यह महासमर
मुझको कर गया शुद्ध,
मेरी आँखें खुल गईं
मुझे मिल गया ज्ञान ।
मैं देख रहा
रण का भीषण परिणाम आज ।
संहार, ध्वंस, यह महानाश !
कल्पनातीत !
उन्मत्त अजय ने
कभी कल्पना में भी इसे न देखा था ।
यदि तभी इसे देखा होता !
पर जाने दो,
जो हुआ, उसे हो जाने दो ।
अब तो मैं जाग चुका रेखा !
इस महाध्वंस ने जगा दिया
मेरे अंतर के देवों को,
जो जाने,
कब से सोए थे मूर्च्छित होकर ।
मैं तो बस अब
कल्याण चाहता हूँ जग का !

रेखा कल्याण चाहते हो जग का !
पहले भी तो
तुम यही कहा करते थे
'मैं कल्याण चाहता हूँ जग का !
मानवता का शुभचिन्तक हूँ !'

तुमने ही तो
इस महासमर के पूर्व
घोषणा की थी यह,
तुमने ही तो
रेडियो-यंत्र से भेजा था
संदेश राष्ट्र के जन-जन को,
तुमने ही तो
था उत्तेजित कर दिया उन्हें निज वाणी से।
तुमने ही तो था कहा—
'राष्ट्र ख़तरे में है,
मानवता की हत्या अब होनेवाली है,
आशंकित है संसार,
त्रस्त है विश्व-शांति !
मानवता के रक्षक,
हे मेरे देशवासियो, सावधान !'
संदेश तुम्हारा ही तो था यह अजय ?
तुम्हींने तो की है जग की रक्षा ?

अजय बस रहने दो रेखा,
अब और न अधिक कहो।
मैं लज्जित हूँ,
मैं जला जा रहा हूँ
प्रायश्चित की ज्वाला में।
स्वीकार कर रहा हूँ सब कुछ।
मैं भ्रम में था,
कल्याण नहीं मैं
चाह रहा था जगती का।
मैं आज समझता हूँ इसको।

मेरे प्रतिद्वन्द्वी का गौरव
विक्षुब्ध कर रहा था मुझको।
मेरे अंतर को वह
प्रतिपल उकसाता था,
ईर्ष्या के नन्हें अग्नि-स्फुलिंग
मेरे मन में सुलगाता था।
मैं चाह रहा था,
गर्वहीन करना अपने प्रतिद्वन्द्वी को।

रेखा
तो तुम्हें चाहिए था,
अपने प्रतिद्वन्द्वी से जा टकराते,
जूझते, मारते, मरते, लड़ते जी भर कर !
ईर्ष्या की प्यास बुझा लेते !
अपनी रिवाल्वर से
उसका वध कर देते।
हो जाता वह गौरव-विहीन।
रण में हत, आहत, भस्मसात
खाकी वर्दी पहने
असंख्य मनु-पुत्रों ने थे,
बोलो,
क्या अपराध किए ?
अगणित ग्रामों, नगरों की
प्रेममयी वसुधा का
रस पीकर जीनेवाले
धरती के प्यारे नर-नारी
औ' निरपराध शिशुओं ने थे क्या पाप किए ?
हो गए सभी-के-सभी भस्म
बस एक तुम्हारे अहंकार के अणु-बम में !

अजय रहने दो रेखा, रहने दो···

रेखा रहने दूँ क्यों ?
कह रही सत्य।
दुनिया अंधी थी, पागल थी,
पहचान न सकी
विश्व के विध्वंसक हत्यारों को निर्मम !
पहचान अगर पाती उनको,
यह समर नहीं होने पाता,
दुनिया यह कभी नहीं मिटती।

अजय सच कहती हो रेखा,
दुनिया यदि हमको रोक सकी होती,
यह भीषण युद्ध नहीं होता।
लेकिन यह तो हो चुका,
किंतु दुनिया अब भी है नहीं मिटी।

रेखा क्या शेष अभी कुछ और
रह गया मिटने में ?
नर-नारी-शिशु मिट गए,
मिट गई प्रकृति,
मिट गई हरियाली,
मिट गए ज्ञान-विज्ञान,
कला-कौशल, दर्शन,
मिट गईं कला-कृतियाँ नर की !
क्या शेष रह गया
और अभी कुछ मिटने में ?

अजय हाँ, सभी मिटे,
हो गए नष्ट।
लेकिन मनुष्य की आशा

अबतक नहीं मिटी !
अब भी मनुष्य
आशा के बल पर जीवित है !

रेखा — आश्चर्य !
अभी भी महाध्वंस में
जाग रही जग की आशा !

अजय — आश्चर्यचकित मत हो रेखा !
मानव की आशा
बड़ी हठीली होती है।
जब तक मनुष्य जीवित है,
उसको आशा शेष रहेगी ही,
मनु के शिशु के कानों में चुपके से
आ सदा कहेगी ही—
'मत रुको, मत रुको,
राह अभी भी बाकी है।'

रेखा — कैसी आशा तुम देख रहे ?

अजय — मेरे मन में एक ही नहीं,
अगणित आशाएँ जाग रही हैं मचल-मचल।
मैं देख रहा हूँ
नई सृष्टि के नए स्वप्न !

रेखा — नई सृष्टि ?

अजय — हाँ, नई सृष्टि !
हो गई पुरातन सृष्टि भस्म।
मैं सोच रहा,
इस धरती पर
फिर नई सृष्टि बन सकती है !

रेखा — कैसे ?

अजय कैसे क्या !
उस महाप्रलय के बाद
शेष थे मनु-श्रद्धा ।
उनसे ही सृष्टि बनी थी यह,
जो अभी-अभी हो गई ध्वस्त !
जब तक जग में हैं प्रकृति-पुरुष,
यह सृष्टि न मरने पाएगी ।
इस नई सृष्टि का निर्माता
मैं मनु,
रेखा श्रद्धा होगी !

रेखा बस, शांत अजय !
मेरा अपमान न करो और ।
मैं अबला दुर्बल नारी हूँ,
पर इससे क्या ?
अपना अपमान न सह सकती ।
सब सर्वनाश हो गया,
एक अपमान यही बस बाक़ी था,
कितनी अभागिनी हूँ मैं, उफ़ !

अजय मत हो अधीर मेरी रेखा !
जो चले गए,
उन सबको अब विस्मृत कर दो ।
अपमान नहीं कर रहा तुम्हारा मैं, रेखा !
देखो, सोचो,
हो गई सृष्टि की रात ख़त्म !
सब दीप बुझ गए,
एक तुम्हीं रह गई शेष ।
हो तुम्हीं सृष्टि की अंतिम लौ,

अंतिम बाती, अंतिम प्रकाश !
मेरी रेखा,
मत बुझो अभी,
बस तुम्हीं सृष्टि की आशा हो !
यह नई सृष्टि
तुमसे ही तो विकसित होगी !

रेखा क्या करूँ आह !

अजय कर दो स्मृतियों को भस्म
चिता की लपटों में !
ले नए स्वप्न पलकों में
तुम बढ़ चलो
सृष्टि की आदि नारि !
हम चलें संग।

[आशा-सूचक वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन]

सेनानायक (धीरे-धीरे)
घिर रही रात ?
रात क्या ? कुछ भी नहीं।
रात-दिन में कुछ अंतर नहीं रहा।
कोई गिनती अब नहीं रही,
दिन कब आया, कब गया,
हुई कब रात !
रात ! अँधियाली रात !
भर गया रात से महाशून्य !
हैं सभी दिशाएँ मौन, शांत, निस्तब्ध !
व्योम सुनसान !
धरा नीरव !
सब ओर शांति !

मृत्यु की शांति ! गहनतम शांति !
केवल मैं ही इतना अशांत !
मैं सेनानायक,
महायुद्ध का जयी, वीर !
मैं नई सृष्टि का निर्माता !
निर्माता ?
कुछ नहीं, कुछ नहीं,
भ्रम है, सब मिथ्या है।
निद्रे !
शांतिदायिनी निद्रे !
मुझे शांति दे।
(ऊँघते हुए) निद्रे ! ···शांति···शांति··

[नेपथ्य में स्वप्न-सूचक वाद्य-संगीत सुनाई पड़ता है।]

कामना (दूर से निकट आती हुई)

गगन पार से मैं चली आ रही हूँ !
धरा पर नया स्वर्ग मैं ला रही हूँ !

गगन आरती ले खड़ा अर्चना में,
झुके जा रहे मेघ आराधना में,
पवन मुस्कुराता हुआ गा रहा है,
दिशाएँ नमित हो रहीं वंदना में,
सभी पर सुमन शुभ्र बिखरा रही हूँ !
गगन-पार से मैं चली आ रही हूँ !

सेनानायक तुम कौन चंचला-सी
यों नभ से उतर रही ?

कामना तुम मुझसे पूछ रहे ?

सेनानायक हाँ-हाँ अप्सरि !

मैं तुमसे ही तो पूछ रहा,
तुम कौन, वायु की लहरों पर
नक्षत्र-रश्मियों के
उज्ज्वल धागे पकड़े
यों उतर रही नभ-मंडल से ?

कामना — मैं कौन ? तुम्हें क्या बतलाऊँ ?

सेनानायक — कुछ भी बोलो।

कामना — तुम भी ऊपर आ जाओ,
तो बतलाऊँगी।

सेनानायक — मैं आ जाऊँ ऊपर कैसे ?
मैं कैसे आ जाऊँ ऊपर ?
मैं तो धरती का प्राणी हूँ !

कामना — (हल्की हँसी के साथ)
तुम तो धरती के प्राणी हो !
तुम कैसे आओगे ऊपर !
नक्षत्र-रश्मियों के धागे तुम भी पकड़ो,
लो चढ़ आओ।

सेनानायक — नक्षत्र-रश्मियाँ हैं सचमुच कितनी सुन्दर !
मैं अभी पहुँच आया ऊपर।
पृथ्वी छूटी,
पर यह क्या देख रहा हूँ मैं !

कामना — यह नया देश !

सेनानायक — यह नया देश !
किरणें सुंदरता की, देखो,
जगमगा रहीं।
सौंदर्य-देश !
इतना प्रकाश !

सुंदरता का इतना प्रकाश !
मेरी आँखें तो मुँद-मुँद जाती हैं बाले !

कामना पागल मत हो,
आगे आओ।

सेनानायक यह लो, आया।
ऐसी नगरी तो
मैंने थी न कभी देखी।
यह सुमन-लोक !
फूलों का यह सुन्दर प्रदेश !
ये राशि-राशि के फूल
शून्य में उड़ते हैं।
उड़ रही सुरभि,
मादक, उन्मादक सुमन-सुरभि !
कंटकित हो रहा अंग-अंग।
अप्सरे,
सुरभि ही है या यह
विद्युत् की धारा चलती है !

कामना (हँसती हुई)
बस सेनानायक ही तो तुम रह गए
कठिन पाषाण-हृदय !
देखो तो यह सौंदर्य-देश,
कहता है क्या ?

सेनानायक कहता है क्या !
कहता है कुछ मुझसे अवश्य।
लेकिन क्या ? क्या ?
कुछ ज्ञात न मुझको होता है।
लेकिन तुमने मुझको

न अभीतक बतलाया,
तुम कौन !
कौन हो अप्सरि तुम ?

कामना मैं कौन, ज़रा देखो मुझको।

सेनानायक तुम सुन्दरता की प्रतिमा हो
चंचल,मादक !
यह स्वर्णिम छवि !
यह रूप-ज्वाल !
ये चंचल वंकिम नयन !
अधर पर खिलती यह मुस्कान !
देवि,
झीना नीला परिधान
उड़ रहा चपल पवन के साथ !
कहो अप्सरि, तुम कौन ?

कामना कामना हूँ मैं, नर !

सेनानायक क्या इसीलिए
उद्वेलित करती हो मन को ?
मेरी इच्छाएँ जाग रहीं,
कुछ माँग रहीं मुझसे बाले !
कुछ दो मुझको।

कामना आगे आओ।

सेनानायक छलने,
मैं आगे बढ़ता हूँ,
तू बढ़ती जाती है आगे !
पर जाने दूँगा मैं न तुझे,
कस लूँगा तुझे भुजाओं में !

कामना दौड़ो मत नर !

पागल मत हो, मत हो विक्षिप्त !
मैं हूँ अतृप्ति,
आकांक्षा हूँ,
तुम पा न सकोगे मुझे कभी !

सेनानायक उफ् ! चली गई !
अदृश्य !
आह !
नक्षत्र-रश्मियाँ छूट गईं मेरे कर से !
मैं गिरा, गिरा, गिर पड़ा !

[नेपथ्य का स्वप्न-सूचक संगीत समाप्त]

सेनानायक आह, दुःस्वप्न !
व्योम से टूट गिरा मैं उल्का-सा।
मैं हूँ सचमुच कितना अशांत !
मेरे मन में कामना जागती है कैसी !
मेरा मन माँग रहा है कुछ।
क्या दूँ इसको ?
मैं हूँ अपूर्ण,
पूर्णता मुझे चाहिए कहीं।
वह नारि-मूर्त्ति
मेरी बाँहों से भाग
हुई अदृश्य कहीं।
उफ्, आज कहीं नारी की
शीतल छाया मुझको मिल पाती !
पा लेना भी तो कठिन नहीं,
नारी जग में है अभी शेष।

मन हो सावधान सेनानायक,
हैं दुर्बलताएँ जाग रहीं तेरे भीतर !

सेनानायक तुम कौन मुझे यों रोक रहे ?

मन पहचान मुझे,
मैं तेरे ही सँग-सँग तो
प्रतिपल रहता हूँ।

सेनानायक तुम कौन ?
कहाँ से बोल रहे ?

मन मैं तेरा मन,
तेरे भीतर से बोल रहा।

सेनानायक मुझसे क्या कहने आए हो ?

मन हो सावधान !
तेरे मन में हैं नई कामनाएँ जगतीं।
तू खोज रहा है
नारी की शीतल छाया,
नारी जगती भर में है केवल एक शेष।

सेनानायक मैं उसकी ही
शीतल छाया तो माँग रहा।

मन मत सोच इसे।
रेखा ने अपनी इच्छा से
कर लिया प्रणय-संबंध
अजय से पहले ही।

सेनानायक तो इससे क्या ?
नारी है जग में एक शेष।
उसको है क्या अधिकार,
करे वह एक व्यक्ति से प्रणय ?
दान दे एक पुरुष को,
और दूसरे तृषित, पिपासित रहें ?
अन्याय नहीं सह सकता मैं !

मन मत हो अधीर सेनानायक,
मत कर उन्मुक्त कामनाओं को निज,
मत उन्हें खेलने दे
खुल कर उच्छृंखल बन।
अन्याय जिसे तू कहता है,
वह है सचमुच अन्याय नहीं।
पहचान ज़रा
मानव-अंतर की भाषा को !

सेनानायक मेरे अंतर की भाषा भी तो
कोई आकर पहचाने।

मन मत हो अशांत।
तू सोच ज़रा,
जल गई सृष्टि,
पर चार व्यक्ति हैं अभी शेष।
मानव-समाज है बचा हुआ।
यह बना रहे मानव-समाज,
स्वीकार तुझे करना होगा
अपने समाज के बंधन को।

सेनानायक स्वीकार न कर सकता मैं
ऐसे नियम कभी,
जिनकी कारा में घुट-घुट कर
मेरी इच्छाएँ मिट जाएँ,
मेरी सब अभिलाषाएँ
आहत हो जाएँ !

मन कल्याण व्यक्ति से
माँग रहा है त्याग, दान।
कल्याण व्यक्ति से

मौँग रहा है संयम, तप।
कल्याण व्यक्ति से
माँग रहा
आशा-आकांक्षाओं के शव।
सेनानायक,
क्या विश्व-हेतु
अपनी इच्छाओं का
तू दमन न कर सकता ?

सेनानायक मैं ही क्यों इनका दमन करूँ ?
क्यों और नहीं करते ऐसा ?
मैं ही केवल दूँ त्याग, दान ?
सब सुख भोगें ?
ओ मेरे मन,
मैं ऐसा कभी न कर सकता।

मन तो क्या तू चाह रहा
यह बची-खुची जगती
भी फिर क्षार बने ?

सेनानायक मैं नहीं चाहता हूँ इसको।

मन तो फिर क्या चाह रहा है तू ?

सेनानायक कुछ नहीं, कुछ नहीं !
किन्तु मुझे चाहिए
एक सुंदरता की सजीव प्रतिमा !
मैं ऊब गया हूँ
इस कुरूप, भीषण जग से !
चाहिए मुझे
सुंदरता की नवीन प्रतिमा !
सौंदर्यमयी,

कामनामयी
नारी की बाँहों की छाया !
मैं नर हूँ,
एक विराट् प्रश्न,
चाहिए मुझे उत्तर कोई !

[तीव्र वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन]

महामात्य (धीरे-धीरे)
जीवन की गति हो गई शेष !
हलचल, स्पंदन,
सब दौड़धूप मिट गई, आह !
लगता जैसे,
धरती की धड़कन बंद हुई !
कितना निष्क्रिय मैं बना आज !
जीवन में कोई कर्म नहीं ।
मैं महामात्य,
मेरा जीवन था कर्म-व्यस्त,
मेरा क्षण-क्षण था मूल्यवान ।
पर आज, आह, मैं क्षुद्र जीव !
सब ओर घिरा है अंधकार,
कोई प्रकाश की किरण नहीं,
मैं जिसे देखकर जी पाऊँ ।

सेनानायक (तनिक दूर से)
क्यों महामात्य !

महामात्य कौन ? सेनानायक ?

सेनानायक तुम निर्जनता के तट पर इस
क्यों हाथों पर सिर झुका
हो रहे ध्यान-मग्न ?

क्या सोच रहे हो महामात्य ?
महामात्य सोचूँगा क्या ?
क्या शेष रह गया
मुझे सोचने को जग में ?
जग प्रश्न-शून्य हो गया,
समस्या नहीं रह गई जीवन में !
सेनानायक इतना निराश क्यों होते हो ?
जब तक जीवन होगा जग में,
जीवन में प्रश्न रहेंगे ही।
प्रश्नों को ढूँढ़ो, सुलझाओ।
महामात्य अब नहीं चाहिए प्रश्न मुझे।
प्रश्नों से टकराता-टकराता हार गया !
मैं समझ रहा था जिसे स्वर्ग,
वह अर्थहीन मिट्टी निकला !
मैं कहता था आदर्श जिन्हें,
वे उड़ते हैं बन धूल आज !
आदर्शों के मेरे सब सपने टूट रहे,
आदर्शों का कुहरा फटता जाता नभ से।
मैं समझ रहा अपनी भूलें !
था अजय कह रहा सत्य,
सत्य ही कहता था।
आदर्श सुनहले मात्र आवरण थे
अपनी इच्छाओं,
स्वार्थों, घृण्य लालसाओं के कुछ !
सेनानायक तुम भी यह कहने लगे
आज क्यों महामात्य ?
महामात्य मैं आज विवश,

असहाय, शून्य में भटक रहा !
कोई आधार नहीं मुझको
मिल रहा कहीं ।
कोई आशा की किरण
न मुझको दीख रही ।
मैंने न कभी सोचा था यह,
ऐसा होगा !

सेनानायक तुम तो कहते थे,
हम सब हैं इस नई सृष्टि के आदि पुरुष !
हम नई सृष्टि को
गढ़नेवाले मानव हैं !
लेकिन तुम क्या कह रहे आज ?

महामात्य मैं देख रहा,
इस नई सृष्टि में
मेरा कोई देय नहीं ।
मैं इसके हित बस अर्थहीन वाणी हूँ,
खो जाऊँगा
इस महाशून्य में पल में ही।
मेरे जीवन का स्नेह चुक गया आह !
शिखा भी निर्वापित हो जाएगी !
प्रेरणा मर चुकी जीवन की,
जीवन भी अब मिट जाएगा !
आनंद हो गया शेष,
करूँगा क्या जीकर ?

सेनानायक लेकिन किसके मन में अब भी
आनंद शेष रह गया यहाँ ?
किसके जीवन की ज्योति

अभी तक बुझी नहीं ?

महामात्य क्या देख न रहे अजय को तुम ?

सेनानायक मैं देख रहा हूँ उसे।
सत्य तुम कहते हो।
सौंदर्यमयी, कामनामयी
नारी उसके जीवन को जगमग करती है !
उसके जीवन की ज्योति
अभी है जगी हुई।
वह नई सृष्टि का स्रष्टा है,
वह नई सृष्टि का निर्माता !
वह नई सृष्टि का मनु है,
रेखा श्रद्धा है !
लेकिन···लेकिन···

महामात्य लेकिन क्या ?

सेनानायक लेकिन,
मैं सोच रहा हूँ मेरे महामात्य !
अधिकार अजय को क्या है,
जग के सुख को अधिकृत कर ले वह ?
हम भी तो जग के प्राणी हैं,
हम भी मनुष्य !
जग के सुख से वंचित होकर
हम मिट जाएँ,
यह न्याय नहीं।
आनंद-मग्न हो अजय,
और हम कष्ट सहें,
यह न्याय नहीं।
एकाधिकार !

जग के सुख पर एकाधिकार !
हम सहन नहीं कर सकते हैं।

महामात्य सेनानायक,
हो शांत तनिक !
मैं देख रहा,
विकृति की रेखाएँ खिंचती
जा रहीं तुम्हारे मुखमंडल पर द्रुतगति से।
आँखों में जाग रही
प्रतिहिंसा की ज्वाला।
यह प्रतिहिंसा !
देखा था मैंने जिसे
तुम्हारी आँखों में
इस रणारंभ के शीघ्र पूर्व !
मेरे मन में आशंकाएँ हो रहीं विकल।

सेनानायक आशंकाएँ ?
आशंकित मत हो महामात्य !
सोचो भी तो,
यह धरणी
शक्तिशालियों की है सदा रही।
हम शस्त्र-युक्त होकर
जगती से मिट जाएँ,
हो शस्त्र-हीन यह अजय
रहे जीवित जग में,
यह कौन नियम ?

महामात्य सेनानायक,
कल्याण सृष्टि का है इसमें,
हम इच्छाओं का दमन करें

संयम से सदा नियंत्रित हो।
कल्याण सृष्टि का भी देखो।

सेनानायक कल्याण सृष्टि का
कभी नहीं खंडित होगा,
यदि अजय धरा से उठ जाए !

महामात्य क्या कहते हो ?

सेनानायक मैं कहता हूँ,
अपनी रिवाल्वर से उसका वध कर दूँगा।
प्रतिहिंसा जाग रही मेरी,
मैं सहन न कर सकता उसका एकाधिकार।
हतवाक्, चकित मत हो अमात्य !
यह अजय रहा जब तक जग में,
हम रेखा से वंचित होंगे।
हम क्षुद्र जीव की भाँति
निरर्थक क्षण गिन कर मिट जाएँगे।
उठ जाने दो उसको जग से।
हम नई सृष्टि के
भाग्य-विधायक होंगे तब !
हम नई सृष्टि के आदि पुरुष !
कितने महान् तब होंगे हम !
गौरवशाली !
क्यों महामात्य ?
यह गौरव देख रहे हो तुम ?
आनेवाली जगती के पिता हम्हीं होंगे !

महामात्य मैं क्षुब्ध, आह ! सेनानायक !

सेनानायक वह देखो,
अजय आ रहा है,

मैं लक्ष्य कर रहा हूँ उसको।

महामात्य सेनानायक !

सेनानायक चुप महामात्य !

[गोली छूटने की आवाज़]

अजय (दूर से) आह !

[तीव्र संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन]

सेनानायक रेखा ! रेखा !

महामात्य बोलो रेखा !

सेनानायक मूर्च्छिता, चेतनाशून्य
हो गई हो क्या तुम ?

महामात्य अवरुद्ध हो गई क्या वाणी ?

सेनानायक रेखा !
नारी !
मानवता की आशा, बोलो।

रेखा चुप !
मानवता का नाम न लो।
मानवता ! (अट्टहास)
मानवता क्या ?
मानवता किसको कहते हैं ?
है कहाँ, ज़रा मैं भी देखूँ !
यह मानवता ! (अट्टहास)

सेनानायक विक्षिप्त हो गई क्या रेखा ?
हो गया संतुलन-भंग ?
बुद्धि हो गई भ्रष्ट ?

रेखा बुद्धि हो गई भ्रष्ट ! (अट्टहास)

सेनानायक हो शांत !
मत हँसो कल्याणी !

रेखा कल्याणी ? (अट्टहास)
मैं नारी हूँ !
कल्याणी हूँ !
तुम भी तो जग के शुभ-चिंतक,
कल्याण चाहनेवाले नर ! (अट्टहास)

सेनानायक यह अट्टहास !
अब बंद करो
पागलपन का यह अट्टहास !

रेखा चुप !
मुझे रोकनेवाले तुम सब कौन क्रूर ?
मैं हूँ स्वतंत्र,
मैं हँसती हूँ अपने मन से।
मैं हँसती हूँ,
हँसती ही जाऊँगी खुलकर ! (अट्टहास)

सेनानायक हो चुका हास्य का नाट्य,
शांत हो रेखा, अब।
मैं सेनानायक,
वीर पुरुष,
जग का विजयी,
मैं माँग रहा कर फैला कर
दो प्रणय-दान !

रेखा प्रणय-दान ! (अट्टहास)

सेनानायक मत हँसो नारि !
मैं विश्व-जयी,
माँगता प्रणय की भीख आज !

महामात्य सेनानायक,
तुम माँग रहे एकाधिकार !

रेखा एकाधिकार ! (अट्टहास)

महामात्य मत हँसो नारि !
मैं भी नर हूँ,
चाहिए मुझे भी प्रणय-छाँह !

सेनानायक मेरे पथ में मत आओ
निष्ठुर महामात्य !

महामात्य मैं भी तो यही
कह रहा हूँ सेनानायक !

सेनानायक चुप महामात्य !

महामात्य सेनानायक,
बस सावधान !
मैं भी नर हूँ,
मैं भी मनुष्य !
मेरा अंतर भी मचल रहा !
मेरी रग-रग में भी है
लहू उबलता अब !
मैं सहन न कर सकता तेरा एकाधिकार !

सेनानायक फिर द्वन्द्व-युद्ध !

महामात्य तत्पर हूँ मैं !

सेनानायक यह लो !—आह !

महामात्य सँभलो !—आह !

[दो गोलियों की आवाज़। दोनों गिर पड़ते हैं।]

रेखा उफ़् !
देख रही हूँ मैं यह क्या ?
एकाधिकार ! (अट्टहास)
सब चले गए !

सब शून्य !
शून्य आकाश !
दिशाएँ शून्य !
धरा हो गई शून्य !
मिट गए पुरुष,
रह गई प्रकृति,
रह गई एक रेखा धरती पर अभी शेष !
वह भी···उफ् !

अजय (दूर से) रेखा ! रेखा !

रेखा यह कैसा स्वर ?
यह कौन मुझे है बुला रहा !

अजय मैं हूँ रेखा !

रेखा तुम ? अजय ? यहाँ ?
तुम जीवित हो ?

अजय मैं आहत हूँ रेखा !
यह मेरा चरण हुआ है क्षत-विक्षत !
लेकिन हैं मेरे प्राण शेष !

रेखा क्या कहूँ अजय !
तुम देख रहे,
परिधान श्याम गिर रहा,
गिर रहा अंबर से !
ढँक रही धरा !
घिर रही साँझ !
सृष्टि की साँझ ! आह !

अजय सृष्टि की साँझ !
किन्तु, देखो रेखा,
उग रहा क्षितिज पर नया चाँद !

यह नई चाँदनी उतर रही !
यह नई चाँदनी !
जगती की मधुमय आशा !
[आशामय वाद्य-संगीत से समाप्त]

लौहदेवता

यह लौह-युग है, दूसरे शब्दों में, यंत्र-युग। लोग यंत्रों को अपने हाथों से संचालित कर सब कुछ उत्पादित कर लेते हैं, और, वैज्ञानिकों का अनुमान है कि कुछ समय बाद मानवीय श्रम की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, यंत्र स्वतः संचालित होंगे। मनुष्यों ने सुख-सुविधाओं की आशा में इस यंत्र-युग को जन्म दिया था, लेकिन जनसमाज को आज तक उनकी प्राप्ति नहीं हो सकी। आज चारों ओर भूख, प्यास, बेकारी, महामारी आदि के दृश्य देखने को मिलते हैं। लोग कहते हैं, यह स्थिति यंत्र-युग की देन है, यंत्र-युग ने ही सामाजिक विषमताओं को उत्पन्न किया है। क्या यह कथन सत्य है? क्या समाज के दुःखों का उत्तरदायित्व यंत्रों पर ही है? 'लौहदेवता' में यंत्र-युग के विकास का चित्र उपस्थित करते हुए इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है।

[वाद्य-संगीत से दृश्य प्रारंभ होता है। जन-समूह लौहदेवता की प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर वंदना का गीत गा रहा है।]

समवेत जय हो लौहदेवता, जय हो !

श्रम-जल निज अंजलि में भरकर
चढ़ा रहे नत हो चरणों पर,
स्वेद-कणों के अक्षत उज्ज्वल
बिखर रहे वेदी पर झर-झर,
अब तो विहँसें नयन तुम्हारे,
अधर तनिक स्मितिमय हों !
जय हो लौहदेवता, जय हो !

बुद्धि-आरती लिए हाथ में
खड़े आज हम द्वार तुम्हारे,
चरणों पर हो चुके समर्पित
तन-मन-जीवन-प्राण हमारे,
दो ऐसा वरदान देवता,
जीवन मंगलमय हो !
जय हो लौहदेवता, जय हो !

तुम हो अभय देव, युग-त्राता,
तुम नवयुग के भाग्य-विधाता,
लौह-पुरुष, विज्ञान-देवता,
यंत्रारूढ़ सौख्य - निर्माता,
पलकें खोल विभा बिखराओ,
जग यह ज्योतिर्मय हो !
जय हो लौहदेवता, जय हो !

एक पुरुष जरा शांत हो-ओ-ओ !

सिहर उठी है लौह-मूर्त्ति यह !

समवेत सिहर उठी है लौह-मूर्त्ति यह !

पुरुष खोल रहा है आज देवता पलकें अपनी !
वह देखो, लोहे की प्रतिमा
चमक उठी कैसी पल भर में,
आँखों से कैसा प्रकाश अब फूट रहा है !
वह देखो,
मुस्कान अधर पर फैल रही है,
आज देवता कुछ बोलेगा !

समवेत आज देवता कुछ बोलेगा !

लौहदेवता मैं प्रसन्न हूँ, मैं प्रसन्न हूँ,
आज तुम्हारी पूजा पाकर तृप्त हो गया !
लेकिन होता ज्ञात न कुछ भी,
क्या दूँ तुमको !
तुम तो स्वयं शक्तिशाली हो,
मनु के धीर वीर वंशज हो,
तुम तो अखिल सृष्टि के स्वामी !

समवेत (व्यंग्य की हँसी)

पुरुष क्या कहते हो लौहदेवता !
हम तो अखिल सृष्टि के स्वामी !
रेंग रहे हैं इस ज़मीन पर कीड़ों-जैसे !

समवेत रेंग रहे हैं इस ज़मीन पर कीड़ों-जैसे !

पुरुष संख्या बढ़ती चली जा रही कीड़ों- जैसी,
नित्य, अनवरत, बिना रुके कुछ ।
और, हमारी धरती माता भी
अब हमसे रुष्ट हो गई !
अब भी हम पूजा करते हैं,

अर्घ्य चढ़ाते हैं श्रम-जल का,
बीजों के अक्षत देते हैं,
हल, कुदाल, हँसिया, खुरपी ले
सेवा-निरत सदा रहते हैं !
फिर भी देवि न प्रमुदित होती,
देती दान न मुक्त-हस्त से,
और, हाथ से पेट दबाए
हम सब भूखे रह जाते हैं !

समवेत — हम सब भूखे रह जाते हैं !

एक स्त्री — लौहदेवता,
धरती माता का न दोष कुछ,
ये हत्यारे बादल हम पर क्रुद्ध हुए हैं !
खेतों में जो हरे-हरे अंकुर उगते हैं,
सूरज की गर्मी से व्याकुल हो जाते हैं।
उन्हें चाहिए शीतल जल तब।
तृषित नयन से
भीख माँगते हैं हम जल का,
लेकिन बहरे मेघ न सुन पाते हैं कुछ भी,
औ' मदमाते, इठलाते,
जाने, किस देश चले जाते हैं।
हरी-भरी खेती तब पल में जल जाती है !
जल जाती है !

पुरुष — नहीं-नहीं, ओ लौहदेवता !
केवल धरती औ' बादल ही रुष्ट नहीं हैं,
रुष्ट हुई है सृष्टि समूची !
कभी बिजलियाँ हैं अपनी तलवार चलातीं,
कभी वज्र गिरता,

उल्का आता पृथ्वी पर,
झंझावात कभी उठता है
हमें उड़ा देने को तृण-सा इस भूतल से !
वज्र-घोष अम्बर करता है,
धरती डोल-डोल जाती है,
प्रलय-काल निष्ठुर हत्यारा
हमें निगल जाने को पल में
बारम्बार उमड़ आता है !
क्षुद्र जीव हम इस धरती के
मूर्च्छित होकर रह जाते हैं !

समवेत क्षुद्र जीव हम इस धरती के
मूर्च्छित होकर रह जाते हैं !

स्त्री इसीलिए आशंकित औ'
भयभीत, क्षुब्ध हो
शरण तुम्हारी आए हैं हम !

समवेत लौहदेवता,
शरण तुम्हारी आए हैं हम !

लौहदेवता भीत न हो ओ मनु के वंशज !
निखिल सृष्टि के शीर्ष मुकुट तुम !
अपनी अमर ज्योति पहचानो।
क्षुब्ध न हो हे युग के मानव,
जग के गौरव !

समवेत (व्यंग्य की हँसी)

पुरुष व्यंग्य मत करो लौहदेवता !
हमें मत कहो जग का गौरव,
क्षुद्र जीव हैं हम जगती के,
क्षुद्र धूल से भरी हुई

धरती पर केवल चलनेवाले !
हमसे तो सचमुच महान् हैं नभ के पंछी,
जिन्हें न कोई नाला-निर्झर,
खाई-खंदक,
गिरि उपत्यका,
सागर विस्तृत,
बाँध कभी पाते सीमा में,
जो हैं बंधन-मुक्त विचरते
नभ में सुख से,
जिनके पथ में
खड़ी नहीं दीवार कहीं है !

स्त्री लौहदेवता,
हमसे तो सौभाग्यशालिनी
हैं ये चपल मत्स्य-कन्याएँ,
जो लहरों की धड़कन पर
थिरका करती हैं,
जो सरिता के अंतर में भी नृत्य-निरत हैं !

पुरुष लौहदेवता,
हमें बंधनों का स्वामी
कहना हो, कह लो !
यहाँ बंधनों से
सब दिशि से हम जकड़े हैं।
देख रहे ही हो
शरीर की सीमाएँ तुम,
मन की सीमाएँ देखोगे, तो रो दोगे।
विरहाकुल हो
कभी रामगिरि पर रोते हैं,

प्रिय-दर्शन के लिए तड़प कर रह जाते हैं,
कोई साधन नहीं कि निज उफनाते उर को
भेज सकें प्रणयाकुल उर तक प्राणप्रिया के !
मेघों से विनती करते हैं
अर्ध्य चढ़ाकर कुटज पुष्प का
ले जाने को प्रेम-सँदेशा,
पर ये निष्ठुर तनिक मुस्करा कर
धीरे से चल देते हैं !

स्त्री — लौहदेवता,
यही हमारी लाचारी है,
यहाँ बंधनों का हम पर निष्ठुर शासन है !

समवेत — यहाँ बंधनों का हम पर निष्ठुर शासन है !
लौहदेवता,
मुक्त करो हमको बंधन से !

लौहदेवता — मत हताश हो मनु के पुत्रो-ओ-ओ !
मत निराश हो जीवन से
आदम के बेटो-ओ-ओ !
तुम बंदी हो,
बंधन ही है शक्ति तुम्हारी।
इन्हीं बंधनों बीच
अर्चना की है लौहपुरुष की तुमने,
इन्हीं बंधनों बीच
बोलता लौहदेव तुमसे प्रसन्न हो।
कौन दूसरा जीव सृष्टि का
प्रमुदित कर पाया है मुझको ?
कौन दूसरा जीव सृष्टि का
चढा सका चरणों पर श्रम-जल ?

कौन दूसरा जीव सृष्टि का
बुद्धि-आरती दिखा सका है ?
मनु के वंशज,
अपनी शक्ति तनिक पहचानो,
दूर फेंक दो तुम अपनी हीनत्व-भावना !
तुम महान् हो !
लौहदेवता आज हुआ तुम पर प्रसन्न मैं !
आज अमित वरदान
तुम्हें दूँगा मैं निश्चय !

समवेत धन्य देवता ! धन्य देवता !

लौहदेवता अब न तुम्हारे पथ में
कोई बंधन होगा !
अब विचरोगे मुक्त पवन–से
वन-उपवन में,
सर-सागर में,
थल-अंबर में !
एक-एक कण निखिल सृष्टि का
चरणों पर नतमस्तक होगा,
सभी तुम्हारे अनुशासन से शासित होंगे !
लो, यह एक शक्ति देता हूँ,
जो चाहोगे,
कर प्रयोग इसका, गढ़ लोगे।

समवेत वही शक्ति दो लौहदेवता !
वही शक्ति दो !

लौहदेवता लेकिन यह किसको दूँ ?

कुछ स्वर मुझको दे दो !

कुछ स्वर मुझको दे दो !

कुछ स्वर　मुझको दे दो !

लौहदेवता　मत अशांत हो !

मूल्य चुकाएगा जो मेरा,

उसको दूँगा।

समवेत　किसको दोगे ? किसको दोगे ?

लौहदेवता　सबसे अधिक स्वर्ण-मुद्राएँ

चरणों पर जो अभी रखेगा !

कुछ स्वर　मेरे पास नहीं हैं !

कुछ स्वर　मेरे पास नहीं हैं !

कुछ स्वर　मेरे पास नहीं हैं !

पुजारी　लौहदेवता, मैं देता हूँ,

पावन चरणों पर अर्पित हैं स्वर्ण-खंड ये !

[सिक्के बज उठते हैं।]

लौहदेवता　तृप्त हुआ मैं !

हुए आज से तुम्हीं पुजारी मेरे।

महाशक्ति लो,

जो इच्छा हो,

कर प्रयोग इसका, गढ़ लेना,

सबको सुखी बनाना !

समवेत　धन्य देवता ! धन्य देवता !

[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन। वाद्य-संगीत द्वारा ही दीर्घ-काल-समाप्ति की व्यंजना हो जाती है।]

पुरुष　सफल हुआ वरदान देवता का अब सचमुच !

महाशक्ति ने हैं रच दिए

मशीन असंख्यक।

देखो, वहाँ, दूर, लंबे हताश खेतों में

चलने लगे शक्ति के ट्रैक्टर !

[दूर से ट्रैक्टर की आवाज़ आती है। समवेत गान सुनाई पड़ता है।]

समवेत ओ लौहदेवता के वरदान सबल ट्रैक्टर,
तू बढ़ता चल।

धरती कहती थी, और न अब उपजाएगी,
वह हार चुकी है, और कहाँ से लाएगी,
रस शेष हो गया है उसका, चुक गई शक्ति,
वह हरे-भरे पौधे न कहीं से पाएगी,
तू गहरे खोद ज़रा, मानव यह सुखी रहे,
ओ मानवीय श्रम के अभिमान सबल ट्रैक्टर
तू बढ़ता चल।
ओ लौहदेवता के वरदान सबल ट्रैक्टर,
तू बढ़ता चल।

पुरुष ट्रैक्टर से मिट्टी उखड़ गई,
चाहिए उसे अब शीतल जल !
धरती की प्यास बुझाने को
यंत्रों ने गति दी मोड़
नदी की धारा की !

[दूर से जल-धारा की आवाज़ के साथ समवेत गान सुनाई पड़ता है।]

समवेत नदी की धार, आ इस ओर,
यह धरती बुलाती है !
विकल है प्यास से, उर में दरारें हैं,
तृषित कण में तुम्हारी ही पुकारें हैं,
ज़रा रस-स्निग्ध कर दे तू,
यही धरती मनाती है !

पुरुष सोना बिखराती
प्रात-रश्मियाँ उतर रहीं घन-खेतों पर !

ये हरे-हरे, लंबे-लंबे
धानों के पौधे
झूम रहे अलमस्ती में,
मानव की आशा
थिरक-थिरक है नाच रही !

[उत्सव-सूचक संगीत के साथ समवेत गान सुनाई पड़ता है ।]

समवेत ये हरे खेत लहराए !
सब आओ हिलमिल हँसे, खेल लें, गाएँ !
ये हरे खेत लहराए !
शबनम में चमक रही अंतर की आशा,
बालों के सँग पलती जाती अभिलाषा,
यह आशा का त्योहार, नया मंगल का पर्व मनाएँ !
ये हरे खेत लहराए !

[दूर से मशीनों की आवाज सुनाई देती है ।]

पुरुष लौहदेव की महाशक्ति ने
अगणित यंत्र बना डाले हैं,
जो दिन-रात चला करते हैं
अथक, अनवरत,
मानव के हाथों से संचालित हो-होकर !
वह देखो,
वह यंत्र भयंकर
पीकर अग्नि-ज्वाल
बुनता है वस्त्र मनोहर,
पांचाली के चीर की तरह
जो सदैव बढ़ता जाएगा ।
इस धरती की कोई नारी,
कोई नर, कोई भी शिशु अब

वस्त्र-विहीन न रह पाएगा !

स्त्री विद्या का भी वितरण
करने लगा यंत्र यह !
एक-एक से होकर अगणित
ग्रंथ बिखरने लगे विश्व के देश-देश में !
अब न ज्ञान-विज्ञान मनुज का
किसी क्षुद्र सीमा में बँधकर कभी सड़ेगा !
अब न किसी की वाणी
घुटकर कभी मरेगी !
ईसा, गौतम, पैगंबर के शुभ संदेशे
देश-देश के लोग सुनेंगे !
कालिदास औ' शेक्सपियर की
आकुल आत्मा
जन-जन की आत्मा से
खुलकर अब बोलेगी !

पुरुष लौहदेवता के वर को
मानवी परिश्रम ने सार्थक कर दिया आज !
पत्थर से भी रस-धारा फूट रही है अब,
लोहे की प्रतिमा
दान कर रही है अमृत !
औषधियाँ बनकर
निकल रही हैं यंत्रों से,
मनु के शिशु पीड़ित
अब न कभी होंगे जग में !
धरती पर आधि-व्याधियाँ अब
लोगों को नहीं सताएँगी !

स्त्री हैं यंत्र सतत चलते जाते

मानव-कर से प्रतिपल संचालित हो-होकर !

[मशीन की आवाज़ के साथ समवेत गान सुनाई पड़ता है।]

समवेत हाथ बढ़ाते चलो,

साथियो, हाथ बढ़ाते चलो !

ये हाथ रुके, तो यंत्र अभी रुक जाएगा,
भावी सुख का शुभ स्वप्न अभी चुक जाएगा,
जग का भविष्य है खड़ा तुम्हारे हाथों पर,
अपने हाथों जग के भविष्य की मूर्त्ति बनाते चलो !
साथियो, हाथ बढ़ाते चलो !

[दीर्घ-काल-सामाप्ति की सूचना देनेवाले वाद्य-संगीत
फिर भीड़ का कोलाहल सुनाई पड़ता है।]

समवेत हम अशांत हैं ! हम अशांत हैं !

पुजारी क्यों अशांत हो ?

पुरुष लौहदेवता के प्रिय सेवक !
हम अशांत हैं !

पुजारी क्या कारण है ?

पुरुष लौहदेवता के वरदान
हो रहे असफल !

पुजारी असफल कैसे ?

पुरुष लौहदेव की महाशक्ति से
तुमने यंत्र बनाए
प्राणहीन, गतिहीन, अचेतन !
हमने उनमें भरी चेतना, गति दी !

समवेत हमने उनमें भरी चेतना, गति दी !

पुरुष हमने उनसे मिट्टी तोड़ी,
धरती सींची,

हमने उनको अस्थि चढ़ाकर,
रक्त पिलाकर
वस्त्र निकाले,
औषधि माँगी,
सुख-सुविधा के
अगणित साधन ढूँढ़ निकाले !
लेकिन फिर भी
हम भूखे हैं, हम नंगे हैं, हम पीड़ित हैं !

समवेत हम भूखे हैं, हम नंगे हैं, हम पीड़ित हैं !

पुजारी मुझसे चाह रहे हो तब क्या ?
मैं तो श्रम का मूल्य तुम्हारे
चुका दिया करता हूँ हरदम !

पुरुष लेकिन श्रम से उत्पादित
वस्तुएँ स्वयं तुम ले लेते हो !

पुजारी क्यों न उन्हें लूँ ?
वे सब तो मेरी हैं,
मेरे यंत्रों से उत्पादित !
तुम्हें ज्ञात है,
मैंने स्वर्ण-खंड दे अगणित
प्राप्त किया है महाशक्ति को
लौहदेव से !
लौहदेवता के वरदान न मैं क्यों भोगूँ ?

समवेत तुम भोगो,
पर हमको भी जीने दो।

पुजारी शांत रहो तुम !
श्रम का मूल्य तुम्हें देता हूँ
अधिक न दूँगा।

समवेत हम सबके सब मर जाएँ क्या ?

पुजारी मरना ही जब लिखा भाग्य में,
मर जाओ तुम !
तुमने अपने पूर्वजन्म में पाप किए हैं,
उनका फल भोगते हुए
तुम मर जाओगे !

पुरुष ठहरो, ठहरो,
लौहदेवता के प्रिय सेवक,
ठहरो भी तुम !

पुजारी मैं न रुकूँगा, मैं न रुकूँगा !

पुरुष तुम न रुकोगे,
तो जाओ, सुख भोगो,
हमने अपने पूर्वजन्म में पाप किए हैं,
उनका फल भोगते हुए
हम मर जाएँगे !

समवेत हमने अपने पूर्वजन्म में पाप किए हैं,
उनका फल भोगते हुए
हम मर जाएँगे !

[दूर पर मोटर की आवाज़ सुनाई पड़ती है।]

स्त्री देखो, चली जा रही मोटर।
लौहदेवता के वरदान
सत्य होते हैं !
बंधन-मुक्त बना मानव
जग में चलता है,
शारीरिक श्रम उसे नहीं करना पड़ता है,
कोसों की दूरी पल में तय हो जाती है !

पुरुष झूठ न बोलो।

लौहदेवता के वरदान
हुए हैं असफल !
भले रायसाहब, राजासाहब
कोसों की दूरी
कर लें तय पल भर में,
लेकिन होरी औ' गोबर बेचारे अब भी
डेढ़ कोस घंटे की ही गति से चलते हैं !

समवेत — डेढ़ कोस घंटे की ही गति से चलते हैं !

[दूर से हवाई जहाज की आवाज़ सुनाई पड़ती है ।]

स्त्री — कितने भाग्यवान हैं हम सब !
हमने नभमंडल को, देखो,
जीत लिया है !
यान हमारे घहर रहे हैं
मुक्त व्योम में विहगों के सँग !
हम रंगीन मेघ-शिशुओं से
उड़कर नित खेला करते हैं !
हम गति के विजयी हैं,
हमने तोड़ दिए सीमा के बंधन !
दुनिया सीमाहीन हो गई आज हमारी !
धरती-अंबर पर
शासन है आज हमारा !

पुरुष — झूठ न बोलो ।
क्षुद्र जीव हम हैं धरती के !
हमसे नहीं अभागा
कोई जीव सृष्टि में !
अंबर की तो बात दूर है,
धरती से उठ नहीं सके हम !

शासन क्या हम ख़ाक करेंगे ?
यहीं कीच-काँदों में
नित गलते-सड़ते हैं !
दुनिया सीमाहीन हुई हो भले किसी की,
किन्तु हमारी दुनिया
केवल बीस कोस लम्बी-चौड़ी है !

समवेत दुनिया सीमाहीन हुई हो भले किसी की,
किन्तु हमारी दुनिया
केवल बीस कोस लम्बी-चौड़ी है !

[टेलीफोन की आवाज़ सुनाई पड़ती है ।]

स्त्री हैं धन्य-धन्य
इस सभ्य सदी के प्राणी हम !
हमने यह कैसा यंत्र
अनोखा पाया है !
दूरी का कोई प्रश्न न अब रह गया शेष ।
तन हो सकता है दूर,
किन्तु मन दूर भला कब होता है ?
आत्मा की उमड़न
कभी न घुटकर मरती है,
अपनी प्रिय आत्मा से
मिलकर ही रहती है !
अब किसी विरहिणी राधा को
प्रिय-सम्बोधन के लिए
नहीं तपना होगा !
अभिशप्त यक्ष को
प्राणहीन बादल से
अब याचना नहीं करनी होगी !

हम सभ्य सदी के प्राणी हैं,
हम लौहदेवता के सेवक !

पुरुष तुम लौहदेवता के लो नाम
न और अधिक,
झूठे गौरव का भार
न अपने सिरपर लो ।
यह सदी सभ्य है या असभ्य,
यह कौन कहे ?
तुम और न बोलो झूठ
कि आत्मा की उमड़न
वाणी आत्मा तक
सीधे पहुँचा देती है ।
हम तो बस अब भी
यही देखते जाते हैं,
रधिया अपनी वियोग-गाथा
स्कूली बच्चों से लिखवा
भिजवाती है पूरबी देश !
सब लौहदेवता के वरदान हुए निष्फल !
सब कहते हैं,
औषधियाँ बनती हैं ऐसी,
मानव-शिशु पर
यम अब निज हाथ न डालेगा ।
लेकिन परसों ही
भोला का सुन्दर नन्हा
दो बार चीखकर चला गया !
यंत्रों की औषधि
बनती रही शीशियों में !

स्त्री तब करना है हमको क्या,
कोई बोले तो !
समवेत कोई बोले तो !
पुरुष करना है कुछ भी नहीं,
भाग्य में मरना है, मर जाएँगे ।
समवेत करना है कुछ भी नहीं,
भाग्य में मरना है, मर जाएँगे !

[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन । संगीत से ही कुछ और अवधि बीतने की सूचना मिलती है । फिर भीड़ का कोलाहल सुनाई पड़ता है ।]

पुजारी ज़रा शांत हो-ओ-ओ !
लौहदेवता का प्रिय सेवक,
मैं अगणित यंत्रों का स्वामी,
आज एक संवाद सुनहला
तुम्हें सुनाने को आया हूँ ।
लौहदेवता को प्रसन्न कर
मैंने नई शक्ति पाई है !
समवेत कौन शक्ति है ? कैसी है वह ?
पुजारी यंत्र स्वत: संचालित होंगे,
अब न तुम्हें श्रम करना होगा,
अब तुम बंधन-मुक्त हो गए !
समवेत (व्यंग्य की हँसी)
अब हम बंधन-मुक्त हो गए !
पुरुष लेकिन बिना परिश्रम के ही
श्रम का मूल्य भला तुम दोगे ?
समवेत श्रम का मूल्य भला तुम दोगे ?
पुजारी श्रम का मूल्य भला क्यों दूँगा ?
पुरुष यंत्रों के उत्पादन में

क्या कुछ न हमारा हिस्सा होगा ?
समवेत क्या कुछ न हमारा हिस्सा होगा ?
पुजारी बिना परिश्रम कैसे अपना हिस्सा लोगे ?
पुरुष तब बोलो, हम क्या खाएँगे ?
समवेत तब बोलो, हम क्या खाएँगे ?
पुरुष हमें कार्य दो,
श्रम का मूल्य चाहिए हमको।
समवेत श्रम का मूल्य चाहिए हमको।
पुजारी लौहदेव की महाशक्ति से
श्रम का क्षेत्र न शेष रह गया।
पुरुष कहो, करें क्या हम बेचारे ?
समवेत कहो, करें क्या हम बेचारे ?
पुजारी मर जाओ तुम।
पुरुष क़िस्मत में जब मरना ही है, मर जाएँगे !
समवेत क़िस्मत में जब मरना ही है, मर जाएँगे !
कुछ स्वर क्या हम सब इतने दुर्बल हैं ?
समवेत क्या हम सब इतने दुर्बल हैं ?
पुरुष कौन कह रहा हमको दुर्बल ?
धीर वीर मनु के वंशज हम !
ज्योति-पुंज हम ! शक्ति-पुंज हम !
लौहदेव को प्रमुदित करनेवाले मानव !
हम महान् हैं !
समवेत हम महान् हैं !
पुरुष हम सब भूखों नहीं मरेंगे !
लौहदेव के वरदानों को
क्षण में खंड-खंड कर देंगे !
लौट जाएँगे

अपने श्रम के जग-जीवन में !

समवेत — लौहदेव के वरदानों को
क्षण में खंड-खंड कर देंगे !
लौट जाएँगे
अपने श्रम के जग-जीवन में !

पुरुष — उठो, बढ़ चलो,
मनु के पुत्रो,
तोड़-फोड़ यंत्रों को हम मिट्टी में मेटें !

समवेत — उठो, बढ़ चलो,
मनु के पुत्रो,
तोड़-फोड़ यंत्रों को हम मिट्टी में मेटें !

पुरुष — हमें नहीं वरदान चाहिए लौहदेव के !

समवेत — हमें नहीं वरदान चाहिए लौहदेव के !

पुरुष — लौहदेव है शत्रु हमारा,
पहले उसकी प्रतिमा को ही खंडित कर दें !

समवेत — लौहदेव है शत्रु हमारा,
पहले उसकी प्रतिमा को ही खंडित कर दें !

पुरुष — उठो, बढ़ चलो !

समवेत — उठो, बढ़ चलो !

[भीड़ का कोलाहल सुनाई पड़ता है। वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन और फिर भीड़ का कोलाहल।]

समवेत — निष्ठुर लौहदेवता, बोलो !
देख सको यह पूजा अपनी,
रक्तिम आँखें खोलो !
निष्ठुर लौहदेवता, बोलो !
बोलो लौहदेवता, बोलो !

लौहदेवता — मत अशांत हो—ओ—ओ !

मत अशांत हो मनु के वंशज !
अपने श्रम को अपने हाथों से मत तोड़ो !
मैंने जो वरदान दिए हैं,
वे सबके हैं।
वरदानों को खंडित करके
अपनी शक्ति करो मत निष्फल !
शक्ति-पुत्र हे !
शक्ति-साधना करो युक्ति से,
जिससे तुम सब सुखी बन सको,
स्वर्ग बन सके धरा तुम्हारी !

समवेत कौन युक्ति है लौहदेवता ?

लौहदेवता युक्तिवान हे !
अपनी युक्ति स्वयं तुम सोचो।
देखो, ढूँढ़ो,
क्षुधा-तृषा, अगणित क्लेशों का
मूल कहाँ है।
वह यंत्रों में नहीं,
तुम्हारे ही समाज में !
मत आघात करो तुम मेरे वरदानों पर.
उनका कोई पाप नहीं है।
शक्ति-साधना करो युक्ति से,
युग-युग तक तुम सुखी रहोगे।

पुरुष सत्य कह रहे लौहदेवता !
वरदानों की महाशक्ति से
हमने हैं जो यंत्र बनाए,
सभी हमारे श्रम के फल हैं,
सभी हमारे रक्त-मांस-प्राणों से उपजे

समवेत सभी हमारे श्रम के फल हैं,
सभी हमारे रक्त-मांस-प्राणों से उपजे !

पुरुष अपने श्रम का ध्वंस न
अपने हाथों से हम होने देंगे !
देखेंगे हम,
क्षुधा-तृषा, पीड़ा-क्लेशों का
मूल कहाँ है,
हम उसका ही नाश करेंगे !

समवेत हम उसका ही नाश करेंगे !

लौहदेवता सुखी रहोगे तुम अवश्य तब !

समवेत धन्य देवता ! धन्य देवता !

[वाद्य-संगीत से समाप्त]

संघर्ष

क्या करे मूर्त्तिकार पंकज ? वह अपनी बेला को सुखी बनाए, अपने मोहन के हाथों में खिलौने दे, अथवा अपनी कला की साधना में तल्लीन रहे ? वह अपने मन से जूझता है ! वह कलाकार है, उसे कला की साधना करनी चाहिए, पर बेला और मोहन की स्मृतियाँ उसे विक्षुब्ध कर देती हैं ! किन्तु वह इनसे विचलित नहीं होगा ! वह साधक है, अमरता का आकांक्षी है, वह संसार की नश्वर वस्तुओं के पीछे नहीं दौड़ेगा। लेकिन उसकी कला-कृतियाँ भी तो नश्वर हैं ! तूफान आएँगे, बवंडर उठेंगे, भूकंप होंगे, परमाणु-बम बरसेंगे, और उसकी मूर्त्तियाँ भी तो ध्वस्त हो जाएँगी ! तब क्या करे मूर्त्तिकार पंकज ? उसके मन में एक संघर्ष चल रहा है। 'संघर्ष' काव्य-नाटक में यही संघर्ष अंकित है।

[वाद्य-संगीत से दृश्य प्रारंभ]

[छेनी और हथौड़ी से मूर्त्ति गढ़ने की 'खट्-खट्, खट्-खट्' आवाज़]

पंकज (धीरे-धीरे)

प्रस्तर में जीवन जागेगा !
मेरी साधना न हार कभी भी मानेगी !
मैं अपने हाथों से गढ़ दूँगा नई मूर्त्ति !
पत्थर जीवित जाग्रत बनकर मुस्काएगा !
इसका अंतर मचलेगा,
आँखें चमकेंगी,
मुख की अंकित रेखाएँ
अपने मौन स्वरों में गाएँगी।
मेरी साधना, न ठहर तनिक,
तू चलती जा !

[मूर्त्ति गढ़ने की आवाज़]

पंकज मैं अपने आघातों से
प्रतिपल जगा रहा हूँ नई ज्योति !
संसार तनिक जिसकी छाया में मुस्काए !

[मूर्त्ति गढ़ने की आवाज़]

पंकज यह निर्जनता का राज्य,
यहाँ कोई न और !
जग के कोलाहल, संघर्षों से दूर,
यहाँ है अभय शांति !
है शांति भंग होती
मेरी छेनी की 'खट्-खट्' से ही बस !
इस निर्जनता में जाग रहा मैं ही केवल,

सोए पत्थर को जगा रहा !
मैं कलाकार हूँ, शिल्पी हूँ।

पंकज का मन तुम कलाकार ही नहीं,
नहीं शिल्पी केवल,
तुम रक्त-मांस के पुतले भी, मानव भी हो !

पंकज यह कैसी ध्वनि ?
सुनता हूँ क्या ?

मन तुम कलाकार ही नहीं,
नहीं शिल्पी केवल,
मानव भी हो !

पंकज तुम कौन ?
कहाँ से बोल रहे ?
मैं तुम्हें देखता यहाँ नहीं,
लेकिन आवाज़ सुन रहा हूँ !

मन मैं तो तुमसे
कुछ कहता रहता हूँ सदैव,
जिसको तुम सुनकर भी
न कभी हो सुन पाते मेरे पंकज !

पंकज पंकज ?
संबोधित करते हो मुझको पंकज कह कर ?

मन आश्चर्यचकित क्यों होते हो ?
मैं तुमसे परिचित हूँ,
तुमको पहचान रहा,
हैं ज्ञात मुझे आख्यान तुम्हारे जीवन के,
हरएक तुम्हारी धड़कन
मेरी धड़कन है !

पंकज सम्मुख आओ,

मैं भी तुमको पहचानूँ तो !

मन (हल्की हँसी)

पहचानोगे ?
आश्चर्य यही,
मुझको तुम अबतक भी
न तनिक पहचान सके !

पंकज मैं समझ नहीं पाता,
तुम क्या यह कहते हो ?

मन जबसे तुमने देखा प्रकाश इस धरती का,
जबसे चंचल साँसें
गिनने लग गईं जिन्दगी की घड़ियाँ,
मैं तबसे ही तो संग तुम्हारे रहता हूँ !

पंकज तुम संग हमेशा रहते हो ?

मन हाँ, संग हमेशा रहता हूँ !
तुम भी हो उतना निकट नहीं अपने मन के,
जितना मैं निकट तुम्हारे
प्रतिपल रहता हूँ !

पंकज तुम कौन ?
क्यों नहीं मेरे सम्मुख आते हो ?

मन सम्मुख क्या आऊँ पंकज !
मैं तो सदा तुम्हारे मन में हूँ,
मैं सदा तुम्हारे अंतर से बोला करता ।

पंकज क्या कहने आए हो मुझसे ?
इस समय ? यहाँ ?

मन मैं कहने आया हूँ पंकज,
तुम कलाकार ही नहीं,
नहीं शिल्पी केवल,

तुम रक्त-मांस के पुतले भी, मानव भी हो !

पंकज तात्पर्य तुम्हारे कहने का ?

मन तात्पर्य स्वयं सोचो, समझो !

पंकज अवकाश नहीं मुझको इतना,
उलझूँ तुमसे !
अवकाश नहीं मुझको इतना,
मैं तथ्यहीन तात्पर्य तुम्हारा
समझूँ, सोचूँ यों रुककर !
तुमने अपनी बातों में
उलझा कर मुझको,
साधना भंग कर दी मेरी !
ये हाथ रुक गए हैं मेरे,
छेनी है नीचे गिरी हुई ।
मेरे सम्मुख यह मूर्त्ति अधूरी खड़ी-खड़ी
सतृष्ण नयन से ताक रही,
है माँग रही जीवन मुझसे !
मैं कलाकार हूँ, शिल्पी हूँ,
भर दूँगा इसमें नए प्राण, चेतना नई !

[मूर्त्ति गढ़ने की आवाज शुरू होती है, फिर शीघ्र ही बन्द हो जाती है ।]

मन मत पागल हो पंकज,
कुछ मेरी बात सुनो ।

पंकज तुम क्यों अशांत
मुझको यों करने आए हो ?

मन मैं तुम्हें सत्य दिखलाने आया जीवन के !

पंकज मैं देख रहा हूँ
जीवन के सत्यों को
इन्हीं मूर्त्तियों में !

मन — पाषाणों में जीवन का सत्य नहीं मिलता,
सत्यों के फूल खिला करते हैं धरती पर !
पाषाणों से तुमको
न उलझने दूँगा अब !
मैं तुम्हें खींच कर
जीवन की धरती पर लाने आया हूँ !

पंकज — मैं कहता हूँ,
मुझको जाना है कहीं नहीं ।
मैं कलाकार, साधना-निरत,
कर रहा अभी मैं नई सृष्टि !

मन — तुम भ्रम में हो !
तुममें है इतनी शक्ति नहीं,
तुम देख सको
जीवन के निष्ठुर सत्यों को !
सत्यों को अपनी आँखों से ओझल करके
भ्रम-सृष्टि कर रहे हो प्रतिपल !
भ्रम की दुनिया में
तुम्हें नहीं रहने दूँगा,
देखना तुम्हें होगा जीवन का कठिन सत्य !

पंकज — ऐसी असत्य बातें क्यों कहते हो ?
बोलो,
मैं कलाकार,
जीवन के सत्यों का द्रष्टा,
मैं देख रहा हूँ उन्हें सतत,
इसलिए कि उनको जग को भी दिखला पाऊँ,
इसलिए कि
प्रमुदित हो पाए संसार

कला-कृतियों में उनका बिंब देख !

मन तुम चाह रहे हो
जगती को प्रमुदित करना ?

पंकज सच कहते हो,
मेरी कामना यही है,
जग यह हँस पाए !
मेरी साधना सफल होगी,
जब मेरी कला-सृष्टियों से
जग पाएगा उल्लास-हास !

मन इन बातों पर
मुझको विश्वास नहीं होता।
कामना तुम्हारी होती यदि
जगती को सुखी बनाने की,
पहले तुम सुखी बनाते
अपनी पत्नी को, माँ को, अपने नन्हें शिशु को !

पंकज क्या कहते हो ?

मन मैं सत्य कह रहा हूँ पंकज !
तुम जीवन के सत्यों से आँखें फेर रहे !
तुम कहते हो,
तुम निर्मित करते हो अनुपम मूर्तियाँ नई,
मैं कहता हूँ,
मूर्तियाँ नहीं,
भ्रम-सृष्टि तुम्हारी हैं केवल !
तुम देख रहे,
अपनी आँखों के सम्मुख नित,
नन्हा मोहन बीमार पड़ा है शय्या पर,
पत्नी बेचैन हो रही है !

[करुण संगीत के साथ एक स्मृति-दृश्य प्रारंभ होता है ।]

मोहन — माँ ! माँ !

बेला — क्या है बेटा ? प्यास लगी है क्या ?

मोहन — हाँ माँ, पानी दे ।

बेला — पहले दवा पी ले बेटा, फिर पानी पीना ।

मोहन — नहीं माँ, यह दवा नहीं पीऊँगा, बड़ी कड़वी लगती है !

बेला — दवा पीएगा, तभी तो जल्दी अच्छा हो जाएगा !

मोहन — तू तो रोज़ यही कहती है, पर मैं अच्छा नहीं होता ! बाहर कब खेलने जाऊँगा माँ ? शांति और रामू रोज़ खेलते हैं !

बेला — तुम भी खेलने जाओगे मेरे लाल ! अच्छा तो हो जाओ !

मोहन — मैं कब अच्छा होऊँगा माँ ?

बेला — अब दो-चार दिन में ही अच्छे हो जाओगे !

मोहन — तब तुम मुझे खाने को दोगी न ?

बेला — हाँ बेटा, मैं तुम्हारे लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीज़ें, बनाऊँगी !

मोहन — मैं संदेश खाऊँगा माँ, रसगुल्ले भी !

बेला — मैं तुम्हें सब कुछ दूँगी मोहन !

मोहन — तू मुझे जल्दी अच्छा कर दे माँ ! बाबूजी से कह कर कोई अच्छी दवा मँगा देना !

बेला — बाबूजी ! (साँस खींचकर) बाबूजी को फुर्सत नहीं रहती बेटा ! वे हमेशा अपने काम में लगे रहते हैं !

मोहन — मेरे लिए वे काम छोड़ कर ज़रूर दवा ला देंगे माँ !

बेला — देख, वे आ ही रहे हैं !

मोहन — कहाँ हैं माँ ?

बेला — आ ही गए ! (पंकज से) देखिए न, मोहन कब से

आपको खोज रहा है ! आपको तो अपनी मूर्त्तियों से ही छुट्टी नहीं मिलती !

पंकज — क्या करूँ, थोड़ा-सा काम बाकी रह गया था, सोचा, पूरा ही करलूँ। (ठहर कर) मोहन की तबीयत कैसी है ?

बेला — आपको इसकी चिंता थोड़े ही है ?

पंकज — चिंता क्यों नहीं है, लेकिन काम में इस तरह उलझ जाता हूँ कि कुछ याद ही नहीं रहता। और, मूर्त्तियाँ बेकार तो नहीं बना रहा हूँ, उनसे पैसे भी तो मिलेंगे ।

बेला — पैसे क्या खाक मिलेंगे ! मूर्त्तियों के प्रेमी ही कितने हैं !

पंकज — हैं क्यों नहीं ? दुनिया में अनेक कला-पारखी हैं !

बेला — साल दो साल में कोई दो मूर्त्तियाँ खरीद ही लेगा, तो क्या इसीसे ज़िन्दगी चलेगी ? मैं कबसे कहती हूँ, कोई दूसरा काम कर लें ।

पंकज — नहीं बेला, मुझसे दूसरा काम न होगा ।

मोहन — बाबूजी !

पंकज — क्या है बेटा ?

मोहन — मुझे जल्दी अच्छा कर दीजिए बाबूजी ! मैं खेलने जाऊँगा !

पंकज — तू अच्छा हो जाएगा मोहन !

मोहन — आपने यह बड़ी कड़वी दवा ला दी है, मैं इसे नहीं पीऊँगा। आप कोई अच्छी दवा ला दीजिए ।

पंकज — अच्छी दवा ! ला दूँगा बेटा ! तू जल्दी अच्छा हो जाएगा ।

[स्मृति-दृश्य समाप्त]

मन (ज़ोर की हँसी)

तुम कलाकार हो, शिल्पी हो !
तुम चाह रहे
उल्लास-हास से भर देना इस जगती को !
लेकिन अपने नन्हें शिशु,
अपनी पत्नी को
तुम तनिक न प्रमुदित कर पाते !

पंकज सच कहते हो।

विक्षुब्ध, विकल हो उठता हूँ
मैं उन्हें देख !
मेरे अंतर के तार-तार बज उठते हैं,
बह चलती है आँखों से करुणा की धारा !
लेकिन क्या करूँ,
विवश हूँ मैं !
ये पत्थर माँग रहे मुझसे आकार नए !
आकृतियाँ माँग रहीं मुझसे जीवन-स्पंदन !
मैं कलाकार,
इनको निराश कैसे कर दूँ ?

[मूर्त्तियाँ गढ़ने की आवाज़]

मन लगता मुझको,

विक्षिप्त हो गए हो पंकज !
पाषाणों की वाणी तुम सुनते हो प्रतिक्षण,
लेकिन मोहन की कातर ध्वनि
अंतर तक तनिक तुम्हारे नहीं पहुँच पाती !

पंकज मुझको अशांत मत करो अधिक !

उनकी स्मृतियों को सोने दो ओ मेरे मन !
मेरे अंतर को और न अधिक कुरेदो तुम !

मैं शिल्पी हूँ,
गढ़ रहा मूर्त्तियाँ जग के हित !
मेरी साधना न भंग करो
इन बातों से !

मन (हँसते हुए) साधना !
साधना इसे तुम कहते हो !
तुम पागल हो।
तुम भाग रहे हो जीवन के संघर्षों से !
पाषाणों के सँग जूझ-जूझ
पाषाण हो गए हो तुम भी !

पंकज क्या कहते हो ?
पाषाण हो गया हूँ मैं भी ?
तुम निष्ठुर हो,
तुम अंतर की धड़कन न तनिक हो सुन पाते !
देखो, मेरे उर में
आकांक्षाएँ हैं जाग रही कितनी,
मेरी पलकों में सपने उमड़ रहे कितने !
मेरी साँसें जग की
मंगल-कामना किया करतीं सदैव !
तुम कैसे कहते हो,
मैं भी पाषाण हो गया हूँ
इन पाषाणों के सँग ?
मेरे उर में तो जाग रही
जीवन-विद्युत् इतनी सशक्त,
जो पाषाणों को भी
नवजीवन देती है !
चेतना नई उनके प्राणों में भरती है !

मन आश्चर्य यही तो
होता है मुझको पंकज !
तुम कहते हो,
कैसे निराश कर दूँ मैं इन पाषाणों को ?
लेकिन निराश करते अपनी प्रिय बेला को
तुमको न तनिक लज्जा आती !
है याद,
कौन-सी आशाएँ थीं
जाग उठी उसके मन में ?

[मधुर वाद्य-संगीत से एक स्मृति-दृश्य प्रारम्भ होता है।]

बेला (हल्की हँसी)

पंकज बड़ी खुश हो बेला !

बेला मैं खुश न होऊँ, तो दूसरा कौन होगा ?

पंकज आखिर बात क्या है ?

बेला मुझसे खुशी की बात पूछ रहे हो ? आज मुझसे सुखी दूसरी कौन नारी होगी ?

पंकज क्यों ?

बेला 'क्यों' का जवाब मैं नहीं देती !

पंकज ज़रा सुनूँ भी !

बेला तुम्हारे-जैसा कलाकार तो ख़ुद समझ जाएगा !

पंकज कलाकार की पत्नी कह दे, तो अच्छी बात न होगी ?

बेला तुम तो मुझे चिढ़ाने लगते हो ! तुम्हीं बतला दो, तो कैसा हो ?

पंकज नहीं बेला, मैं पहेली बूझना नहीं जानता। मैं तो मूर्त्ति गढ़ना जानता हूँ—पत्थर की मूर्त्ति !

बेला एक मेरी भी मूर्त्ति नहीं बना दोगे ?

पंकज तुम तो मेरी कला की प्रेरणा हो ! अपनी प्रत्येक

मूर्ति में मैं तुम्हारी ही आत्मा का संगीत भरता हूँ !
मैं कितना प्रसन्न हूँ--तुम्हारी-जैसी जीवन-संगिनी पाकर !

बेला यह तो तुम उल्टी बात कहते हो !

पंकज उल्टी बात कहता हूँ ?

बेला और नहीं, तो क्या ? खुश तो मैं हूँ कि तुम्हारे-जैसे कलाकार की पत्नी हुई !

पंकज पगली ! (हल्की हँसी)

बेला हँसते क्यों हो ? मैं झूठ कहती हूँ ?

पंकज झूठ क्यों कहोगी बेला ! लेकिन मैं सोच रहा हूँ कि क्या तुम हमेशा सुखी रह सकोगी ?

बेला मैं तुमसे ऐसी बातें नहीं सुनना चाहती ! मेरा मन आशंकित हो उठता है ! मैं तुम्हारे साथ हमेशा सुखी रहूँगी !

पंकज तुम मेरी बात नहीं समझी !

बेला मैं सब समझती हूँ । तुम कलाकार हो, शिल्पी हो ! मुझे तुम्हारी प्रतिभा पर, तुम्हारी शक्ति पर विश्वास है ! मैं जानती हूँ, तुम मुझे दुखी नहीं होने दोगे !

पंकज हाँ बेला, मैं तुम्हें दुखी नहीं होने दूँगा ! तुम्हारे होठों की मुस्कान के लिए मैं सब कुछ करूँगा ।

बेला तुम कितने अच्छे हो !

[स्मृति-दृश्य समाप्त]

मन (ज़ोर की हँसी)
तुम कितने अच्छे हो पंकज ! (हँसी)

पंकज तुम हँसने आए हो मुझ पर ?

मन मैं हँसने नहीं यहाँ आया,
यह तुमसे कहने आया हूँ,

तुमने अपनी बेला को सुखी बनाया है !
मुस्कान अधर पर खिलती रहती है उसके,
आँखें उसकी मुस्काती हैं,
हो सुख-विभोर,
उल्लास-हास के गीत सदा वह गाती है !
तुम कितने अच्छे हो पंकज ! (व्यंग्य की हँसी)

पंकज — मैं कहता हूँ,
मुझ पर न हँसो अब और अधिक,
ओ मेरे मन !

मन — मैं हँसता नहीं तनिक तुमपर।
कुछ बीती बातें याद करा देता हूँ, बस !
उन मधु-दिवसों की स्मृतियाँ,
बोलो, कहाँ गईं ?
बेला की पलकों के सपने क्या कहते हैं ?
उसके मन का विश्वास
भला क्या हार गया ?
तुमने थे जो आश्वासन दिए कभी उसको,
वे पाषाणों से टकरा कर क्या धूल हुए ?
क्या सचमुच ही
तुम देख नहीं पाते उसकी इच्छाओं को ? —
जो सिसक-सिसक कर रोती हैं,
जो घुट-घुट कर मिट जाती हैं !

पंकज — बस, रहने दो ओ मेरे मन !
मैं सुन न सकूँगा और अधिक !
सोई स्मृतियों को जगा-जगा
मुझको अशांत क्यों करते हो ?
मैं कलाकार हूँ,

मुझे साधना करने दो !

[मूर्त्ति गढ़ने की आवाज़]

मन ठहरो पंकज !
भागो न अभी,
भागने नहीं दूँगा तुमको !
सोचो तो कुछ,
तुम पाषाणों से टकराना यह छोड़
कहीं श्रम और दूसरा करते यदि,
धन-वैभव मिलता,
सुख मिलता,
जीवन में हँसी-खुशी तब आकर लहराती,
बेला मुस्काती,
मोहन किलकारी भरता,
साधों की कलियाँ खिल जातीं !
कितना सुंदर लगता यह जग !

पंकज रहने दो अब
ओ मेरे मन !
तुम दुनिया को रंगीन बना
साधना-भ्रष्ट मुझको यों करने आए हो !
लेकिन मैं अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हूँगा !
है मुझे ज्ञात,
इस दुनिया की यह चमक-दमक,
यह रंगीनी,
सब नश्वर हैं, हैं क्षणिक, तुरत मिट जाएँगी !
मैं नश्वरता के लिए
अमरता को न कभी भी खो सकता !

मन यह बात अमरता की

तुमने कैसी छेड़ी ?

पंकज ओ मेरे मन,
तुम अन्धे हो,
तुम समझ न पाओगे सब कुछ !

मन पत्थर के प्रेमी,
ज़रा मुझे समझाओ तो !

पंकज जो रंग दिखाते हो मुझको
इस दुनिया के,
वे सब के सब धुल जाएँगे !
बेला न रहेगी,
रह न सकेगा मोहन भी,
औ' कलाकार पंकज की
नश्वर देह कभी मिट जाएगी !
मिट जाएँगे
जग के वैभव-ऐश्वर्य सभी !
मिट जाएगी
दुनिया की सारी चमक-दमक !
लेकिन यह अनुपम कला-सृष्टि
जग के ध्वंसों पर भी सदैव मुस्काएगी !
युग-युग तक कलाकार पंकज की
गौरव-गाथा गाएगी !
सब मिट जाएँगे,
वर्त्तमान के प्राणी हैं,
लेकिन यह मेरा कलाकार
है तोड़ रहा इस वर्त्तमान की सीमाएं
छेनी के निष्ठुर निर्मम कुछ आघातों से !
आनेवाली सदियों में भी

यह कभी न मिटनेवाला है !
यह गौरव देख रहे हो तुम ?
देखो भी तो !

[वाद्य-संगीत से भविष्य का एक दृश्य प्रारम्भ होता है। बहुत-से लोगों के जमीन खोदने की आवाज़ सुनाई पड़ती है ।]

आदमी १ अरे भई, ज़ोर से कुदाल न चलाओ !

आदमी २ क्यों ?

आदमी १ कहीं ऐसा न हो कि जिन मूर्त्तियों की खोज में हम मिहनत कर रहे हैं, वे हमारी कुदाल की ही चोट से टूट जायँ !

आदमी २ हाँ, अभी-अभी तो यह छोटी-सी पत्थर की मूर्त्ति मिली है !

आदमी १ इसीलिए तो कहता हूँ कि बड़ी मूर्त्तियाँ भी शीघ्र ही मिलेंगी । अच्छा, जल्दी-जल्दी काम करो !

[कुदाल और फावड़े चलाने की आवाज़]

आदमी २ यह देखिए, एक नई मूर्त्ति यह निकली !

आदमी १ कितनी सुन्दर है ! —मैं कहता हूँ, अभी और मूर्त्तियाँ निकलेंगी । काम करो ।

[कुदाल और फावड़े चलाने की आवाज़]

आदमी २ यह देखिए, एक नई मूर्त्ति और निकली !

[कुदाल और फावड़े चलाने की आवाज़]

आदमी २ एक मूर्त्ति और !

आदमी १ इतनी मूर्त्तियाँ ! कला का अनुपम भांडार पा लिया हमने ! कितनी सुन्दर हैं ये !

आदमी २ इनकी कला तो देखिए ! इनकी एक-एक रेखा बोल रही है ! ये कितनी सजीव लगती हैं !

आदमी १ सचमुच ये किसी कुशल कलाकार की सृष्टि हैं ! नाम तो देखो !

आदमी २ नाम तो इस मूर्त्ति के नीचे खुदा हुआ है।

आदमी १ क्या नाम है ?

आदमी २ मूर्त्तिकार पंकज !

आदमी १ मूर्त्तिकार पंकज ! तुम हमारी श्रद्धा के पात्र हो ! हम तुम्हारे चरणों पर अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते हैं !

आदमी २ आश्चर्य है कि हम ऐसे महान् कलाकार के विषय में कुछ नहीं जानते थे ! पता नहीं, यह किस युग का कलाकार है !

आदमी १ मूर्त्तियों पर सन्-संवत् का उल्लेख तो अवश्य होगा !

आदमी २ होना तो चाहिए !

आदमी १ ज़रा गौर से देखो !

आदमी २ देख रहा हूँ ! —यह तो किसी सन् का ही उल्लेख है !

आदमी १ पढ़ो भी तो !

आदमी २ उन्नीस सौ पचास !

आदमी १ तो, इसमें सन्देह नहीं कि मूर्त्तिकार पंकज बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में रहा होगा !

आदमी २ उसकी कला गज़ब की है ! आज इतनी सदियों बाद भी उसकी मूर्त्तियों में इतनी शक्ति है कि ये हमारे मन को गुदगुदा सकें।

आदमी १ सचमुच वह महान् कलाकार था !

आदमी २ ये मूर्त्तियाँ हमारे गौरव की वस्तु हैं !

आदमी १ इन्हें हम अपने म्युज़ियम में ले चलें !

आदमी २ हाँ-हाँ, हमें इनका संरक्षण करना चाहिए !

[भविष्य का दृश्य समाप्त]

मन (ज़ोर की हँसी)

पंकज क्यों हँसते हो
ओ मेरे मन ?

मन पागल सपने छल रहे तुम्हें !

पंकज पागल सपने ?

मन मैं ऐसे सपनों को
पागल ही कहता हूँ !
ये निष्ठुर होकर छीन रहे हैं
तुमसे मधुमय वर्त्तमान !
अमरत्व प्राप्त करने के हित
तुम दौड़ रहे हो अंधों-से अपने पथ पर !

पंकज क्या कहते हो !
मैं दौड़ रहा हूँ अंधों-सा ?

मन तुम देख नहीं पाते
जीवन के सत्यों को,
जो वर्त्तमान की धरती पर
सामने तुम्हारे बिखरे हैं !
तुम कहते हो,
ये वर्त्तमान के सुख-वैभव
सब नश्वर हैं,
चाहिए तुम्हें अमरत्व कहीं !
मैं कहता हूँ,
तुम भ्रम में हो !
तुम खोज रहे अमरत्व यहाँ,
वह भी नश्वर, क्षणभंगुर है !

पंकज वह भी क्षणभंगुर है कैसे ?

मन (हँसी)

तुम देख नहीं पाते उसको ?
तुम कहते हो,
बेला, मोहन मिट जाएँगे,
इस दुनिया के चमकीले रँग धुल जाएँगे,
दस वर्षों में सब चमक-दमक होगी मलीन !
तुम अमर रहोगे
इन्हीं मूर्त्तियों में छिप कर !
मैं कहता हूँ,
ये कला-सृष्टियाँ भी
खंडित हो जाएँगी !

पंकज कैसे खंडित होंगी,
मैं समझ नहीं पाता !

मन (हँसी)
तुम समझोगे इसको कैसे ?
भ्रम का आवरण
तुम्हारी आँखों पर छाया !
क्या देख नहीं सकते
कि कभी तूफान-बवंडर आएँगे,
धरती डोलेगी,
आसमान थर्राएगा !

[आँधी-तूफान, भूकंप आदि की भयंकर ध्वनियाँ दूर से धीरे-धीरे उठ कर तेज हो जाती हैं। बहुत-से लोगों की आवाजें सुनाई पड़ती हैं— 'भागो, भागो,' 'जान बचाओ' आदि]

पुरुष-स्वर १ अरे राकेश, तुम यहीं खड़े हो ?

पुरुष-स्वर २ और क्या करूँ ?

पुरुष-स्वर १ भागते क्यों नहीं ?

पुरुष-स्वर २ भाग कर कहाँ जाऊँ ? देखते नहीं ? समूची

धरती डोल रही है, आकाश फट रहा है, काले-काले बादल उमड़े आ रहे हैं, आँधियाँ बढ़ती आ रही हैं, तूफान उत्पात मचा रहे हैं! मालूम होता है, प्रलय आकर ही रहेगा!

पुरुष स्वर १ तुम भी गज़ब के आदमी हो, यों खड़े-खड़े प्रलय की बातें सोच रहे हो!

पुरुष स्वर २ जो सामने देख रहा हूँ, उसे सोच रहा हूँ! ये बड़े-बड़े आलीशान महल गिर-गिर कर चूर हो रहे हैं, धरती फट रही है, सभी ढह रहे हैं, ढह रहे हैं, आह!

[आवाज़ तेज़ होकर कुछ कम हो जाती है।]

मन (अट्टहास)

कलाकार पंकज की
सब मूर्त्तियाँ ध्वस्त हो जाएँगी! (हँसी)

पंकज इतना न हँसो ओ मेरे मन!
मैं पागल हो जाऊँगा। सचमुच इन्हें सोच!

मन (हँसी)

मैं क्यों न हँसू?
तुम खोज रहे अमरत्व यहाँ!
अमरत्व भला इस धरती पर
मिल पाता है?
धरती पर सब कुछ नश्वर है,
क्षण-भंगुर है,
आशंका से जीवन का
प्रतिक्षण कंपित है!
तूफान-बवंडर,
उल्का-झंझावातों का भय तो है ही,

संभव है,
जग के भले आदमी,
शांति चाहनेवाले नर
कुछ ऐटम बम भी बरसा दें !

[बहुत-से हवाई-जहाजों की आवाज़ । विस्फोट आदि, आह-चीत्कार की ध्वनियाँ ।]

मन (अट्टहास)
तब कलाकार पंकज की
ये मूर्त्तियाँ कहीं बच पाएँगी ? (हँसी)
अमरत्व चाहनेवाले भावुक कलाकार ! (हँसी)

पंकज बस !
रहने दो, रहने दो,
हँसो न और अधिक
ओ मेरे मन !
सच कहते हो,
अमरत्व नहीं इस धरती पर !
भ्रम है, सब मिथ्या है !
मेरी साधना, कला-कौशल,
सब निष्फल हैं,
मेरी मूर्त्तियाँ सभी
खंडित हो जाएँगी !
मैं रचकर इन्हें करूँगा क्या ?
प्रतिमे, तुमको मिटना ही है,
तो बनकर भला करेगी क्या ?
[पत्थर पर ज़ोर से हथौड़ा मारने की आवाज़]

पंकज आह !
मैंने यह क्या कर दिया आज ?

मेरी यह अनुपम कला-सृष्टि
हो गई नष्ट मेरे हाथों !
मैं पागल हूँ,
मैं उलझ रहा हूँ, जाने क्यों,
अपने मन से !
ने अपनी प्रतिमा
खंडित कर दी पल में !
यह प्रतिमा, मेरी कला-सृष्टि !
जिसके रचने में
मुझे आत्म-सुख मिलता था,
संतोष हृदय को होता था !
मैं फिर से कोई मूर्ति रचूँगा मनमोहक,
पत्थर में ज्योति जगाऊँगा !

[वाद्य-संगीत से समाप्त]

विकलांगों का देश

क्या कहीं ऐसा भी देश है, जिसमें केवल विकलांग ही रहते हों, जहाँ केवल अंधों, लँगड़ों, लूलों, बौनों आदि का ही निवास हो? ऐसे देश की कथा कहीं सुनी नहीं गई, लेकिन वह देश हमारी पृथ्वी पर है, हमारी आँखों के सम्मुख! जिस समाज में मनुष्य की शक्तियाँ पूर्णतः विकसित नहीं हो पातीं, उसे दूसरा कुछ कहा क्या जाय? वह विकलांगों का ही देश है। 'विकलांगों का देश' में उसीके कुछ दृश्य दिखाए गए हैं।

[करुण वाद्य-संगीत से दृश्य प्रारंभ होता है।]

समवेत जि़न्दगी—कुछ नहीं !

घनी रात है यह,
घिरा है अँधेरा,
कहीं जा छिपा है
सुनहला सवेरा,
पता कुछ नहीं
रोशनी का कहीं !
जि़न्दगी—कुछ नहीं !

मिटीं सब उम्मीदें,
मिटे स्वप्न सारे,
बुझे खाक होकर
चमकते सितारे,
घड़ी बेबसी की
सिसक है रही !
जि़न्दगी—कुछ नहीं !

नहीं चाह अब कुछ,
नहीं शेष आशा
भला अब छलेगी
हमें क्या निराशा ?
मिलें आज जो भी,
सभी हैं सही !
जि़न्दगी—कुछ नहीं !

[गीत की ध्वनि क्रमशः निकट आती जाती है, जैसे जन-समूह निकट आ रहा हो ।]

स्त्री — सुनते हो यह ?
यह करुण रागिनी जीवन की
गूँजती चली जा रही
धरा से अम्बर तक !

पुरुष — यह करुण रागिनी
एक कंठ से नहीं,
अनगिनत कंठों से है फूट रही !
वह लम्बी भीड़
बढ़ी आ रही इधर प्रतिपल ।

[क्रमशः निकट आती हुई भीड़ की आवाज़ सुनाई पड़ती है ।]

स्त्री — मैं सोच रही हूँ,
क्या यह सब ?
ये कौन व्यक्ति
जीवन का यह मर्सिया
गा रहे सिसक-सिसक ?

पुरुष — चाहिए तुम्हें तब परिचय कुछ !
क्या परिचय दूँ !
परिचय ये अपने ही देंगे !

[भीड़ से कुछ फुसफुसाहट की आवाज़ आती है ।]

पुरुष-स्वर १ — मैं लँगड़ा हूँ !

स्त्री-स्वर — मैं अंधी हूँ !

पुरुष-स्वर २ — मैं लूला हूँ !

पुरुष-स्वर ३ — मैं बौना हूँ !

पुरुष-स्वर ४ — मैं हूँ कुरूप !

सब — हम सब कुरूप !

पुरुष-स्वर १ ये पैर कट गए हैं मेरे !

स्त्री-स्वर आँखों में है रोशनी नहीं !

पुरुष-स्वर २ ये हाथ, आह ! निर्जीव बने हैं झूल रहे !

पुरुष-स्वर ३ कट गए कान !

पुरुष-स्वर ४ है नाक कटी !

पुरुष-स्वर १ हम सबके ही कुछ अंग हुए हैं छिन्न-भिन्न !

पुरुष-स्वर २ विकलांग सभी !

सब विकलांग सभी !

पुरुष यह विकलांगों का देश सामने है मेरे !
यह अंधों, लँगड़ों, लूलों. बौनों की दुनिया !
कोई न पूर्ण व्यक्तित्व
दीखता यहाँ कहीं
सब छिन्न-भिन्न !
सब अस्त-व्यस्त !
रुधिराक्त गात !
व्याकुल हो-होकर चारों ओर कराह रहे !

स्त्री यह विकलांगों का देश !
सभी विकलांग यहाँ !
नर-नारी, बालक-वृद्ध,
युवा-युवती सब हैं विच्छिन्न अंग !
कुछ पंगु, वधिर, कुछ मूक,
और कुछ हस्त-चरण से हीन विकल !

पुरुष इनके अंतर की
आकांक्षाएँ घुट-घुट कर
मिट जाती हैं,
इच्छाएँ सिसक रहीं प्रतिपल—

[भीड़ से फुसफुसाहट की आवाज़ आती है ।

पुरुष-स्वर १ काश ! इन पैरों में ताक़त होती,
देखता, कौन-सा देश वहाँ उस पर्वत पर !

स्त्री-स्वर सब कहते हैं,
यह दुनिया है रंगीन बहुत,
मेरी ये आँखें उन्हें देखने देतीं यदि !

पुरुष-स्वर २ उफ़ ! कटी उँगुलियाँ, कटे हाथ !
मैं अपने सपनों को
जग को दिखला पाता !

पुरुष-स्वर ३ यदि मैं भी कुछ सुन्दर होता,
कामनामयी मुस्कान बरस पाती मुझपर !

पुरुष-स्वर ४ मन की भावना रही मन में,
कुछ हो न सका !

सब कुछ हो न सका !

स्त्री मैं सोच रही,
यह विकलांगों का देश कहाँ इस धरती पर ?
यात्रा की बड़ी पुस्तकों में
इसका विवरण है छपा नहीं !
कोलम्बस, हडसन, कूक, ड्रेक ने
विकलांगों का देश न देखा यहाँ कहीं !
देखा भी हो, तो लिखा न इसका विवरण कुछ !

पुरुष यह विकलांगों का देश नहीं
मंगल ग्रह पर,
यह चन्द्रलोक पर नहीं,
नहीं शनि पर, बुध पर !
यह विकलांगों का देश
इसी पृथ्वी पर है !
इस पृथ्वी पर,

जो जाने, कब से घूम रही
सूरज के चारों ओर वर्ष में एक बार !

स्त्री आश्चर्य !
देश यह विकलांगों का
देख न कोई सका
कहीं इस पृथ्वी पर !
संभव है,
मिश्री पिरामिडों के नीचे
यह हो गया ध्वस्त !
संभव है,
कलाकार की यह
केवल विक्षिप्त कल्पना हो !

पुरुष यह कलाकार कवि की
केवल कल्पना नहीं,
यह दबा नहीं
मिश्री पिरामिडों के नीचे,
यह मिटा नहीं
भूडोलों से खंडित होकर !
यह तो स्थित है
बस इसी हमारी पृथ्वी पर !

स्त्री लेकिन, किस युग की बात
कह रहे, बोलो तो !

पुरुष विकलांग स्वयं हैं बोल रहे !

[भीड़ से फुसफुसाहट की आवाज़ आती है।]

पुरुष-स्वर १ मैं तो जन्मा था चौदह में,
जब विश्व-युद्ध था शुरू हुआ !

स्त्री-स्वर दो साल हो रहे हैं

बस मेरी शादी के !

पुरुष-स्वर २ — पच्चीस साल से देख रहा हूँ दुनिया में !

पुरुष-स्वर ३ — उफ़, मेरे पिता मरे थे सन् सत्ताइस में !

पुरुष-स्वर ४ — कुछ याद नहीं,
बाईस वर्ष के ही लगभग मैं हूँगा बस !

पुरुष-स्वर १ — तब तो हम सब बीसवीं सदी के प्राणी हैं !

सब — बीसवीं सदी के प्राणी हैं !

स्त्री — आश्चर्य !
सभी बीसवीं सदी के प्राणी हैं !

पुरुष — आश्चर्य और भी होगा अब !
जो भीड़ खड़ी है सम्मुख यह,
झुक कर इसको पहचानो तो !
इसमें कुछ जाने-पहचाने
कुछ अनजाने !
चेहरे नहीं यदि याद,
नाम से पहचानो ।

[भीड़ से फुसफुसाहट की आवाज़ होती है ।]

पुरुष-स्वर १ — मोहन ।

स्त्री-स्वर — बेला ।

पुरुष-स्वर २ — अब्दुल ।

पुरुष-स्वर ३ — माधव ।

पुरुष-स्वर ४ — गिरधर ।

पुरुष-स्वर ५ — उमेश ।

पुरुष-स्वर १ — क्या पूछ रहे हो नाम ?
कुछ नहीं,
यहाँ विकलांग सभी !

सब — विकलांग सभी !

['जिन्दगी-कुछ नहीं' गीत शुरू होकर धीरे-धीरे दूर चला जाता है।]

पुरुष — यह विकलांगों की भीड़
दूर हो, बिखर गई !
सब चले गए अपने श्रम पर,
अपनी जीविका कमाने को,
जीने के लिए कहीं मरने, मिट जाने को !

स्त्री — लेकिन मैं समझ नहीं पाई,
विकलांग सभी ये कैसे हैं ?

पुरुष — तुम समझ न पाओगी इसको।

स्त्री — बतलाओ भी।

पुरुष — बतलाऊँ क्या !
यह विकलांगों का देश तुम्हारे सम्मुख है !
इसकी विस्तृत धरती
हो विकल कराह रही !
इसके अंतर की उमड़न घुटती जाती है !
तुम देख नहीं पाती इसको,
तो जाओ,
घूमो इधर–उधर
इस विकलांगों की दुनिया में !
देखो, समझो, पहचानो,
सब विकलांग बन रहे हैं कैसे !
[वाद्य संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

स्त्री — ओ युवक,
ज़रा ठहरोगे तुम ?
अवकाश तुम्हें क्या है थोड़ा ?

गिरधर — थोड़ा-सा क्यों ?

अवकाश—सिर्फ़ अवकाश
ज़िन्दगी में है मुझको मिला हुआ !
आज़ाद हवा की तरह
घूमता-फिरता हूँ
गलियों में, सड़कों पर,
फुटपाथों पर,
जगमग करते
जागते हुए रंगीन सिनेमा-घर के
सुन्दर द्वारों पर !

स्त्री
कैसी विचित्र बातें करते हो ?
ठहरो भी,
केवल दस मिनट तुम्हारे
मैं हूँ माँग रही !

गिरधर
दस मिनट नहीं,
दस घंटे मैं दे सकता हूँ ।
मिनटों, घंटों, हफ्तों से
मैं हूँ बधा नहीं ।
यह टिक्-टिक् करती घड़ी
इशारों से है जग को रोक रही;
लेकिन इसका
मुझ पर कोई अधिकार नहीं !
मैं मुक्त काल के बंधन से !
जबतक इच्छा होती है,
मैं सुनसान पार्क में
बैठे-बैठे गाता हूँ
फिल्मों के कितने घिसे गीत !
जबतक इच्छा होती है,

टहला करता हूँ
फुटपाथों पर,
उँगली में ले सिगरेट अधजली सुलगा कर !

स्त्री कुछ बातें नहीं समझ में
आती हैं मेरी।
तुम कौन ?
ज़रा अपना परिचय

गिरधर परिचय मेरा कुछ न
तुम्हें क्या बतलाऊँ ।

स्त्री वाह, क्या कहते हो !
इतना भी तुमको ज्ञात नहीं
तुम कौन, कहाँ, क्या करते हो ?

गिरधर क्या बतलाऊँ !
मेरा परिचय है
विश्व-कोष में कहीं नहीं !
हर साल इयर-बुक छपती है,
लेकिन मेरा परिचय
उसमें भी अबतक दीख नहीं पाया,
आगे दिखने की भी कोई उम्मीद नहीं !
दुनिया में मेरे आने की भी ख़बर
किसी दैनिक में निकली कभी नहीं !
मेरे विवाह में
नहीं किसीने दूर देश से
शुभ संदेशे भेजे थे !
मेरी आकृति चलचित्रों में
आई न कभी !
मेरा स्वर गूँजा नहीं रेडियो-यंत्रों से !

अख़बारों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं !
मैं यहाँ रहूँ,
या वहाँ रहूँ,
बीमार रहूँ,
या मर जाऊँ,
दुनिया को इसकी ख़बर नहीं !
मैं कुछ भी नहीं,
नहीं कुछ भी !

स्त्री लेकिन कुछ नाम तुम्हारा तो होगा ज़रूर !

गिरधर जो कुछ इच्छा हो,
कह लो तुम।
राघव, रहीम, अब्दुल, सुरेश,
मोहन, माधव
मैं सब कुछ भी हो सकता हूँ !
नामों से मुझमें
अंतर नहीं पड़ेगा कुछ !

स्त्री लेकिन मैं तुम्हें पुकारूँ
बोलो, क्या कह कर ?

गिरधर कह लो गिरधर !

स्त्री भाई गिरधर,
तुम कहते हो,
अवकाश तुम्हें है जीवन में !
इतना अवकाश प्राप्त करके
तब तो तुम बहुत सुखी होगे ?

गिरधर ये भूख-प्यास,
गर्मी-जाड़े
होने दें सुखी मुझे तब तो !

कितनी भी कोशिश करता हूँ,
ये दूर रहें,
लेकिन दिन को दस बजे,
रात को आठ बजे
यह भूख पापिनी
तुरत पास आ जाती है,
यह महाशाप-सी
घर भर पर छा जाती है !
प्यारा मंगल अकुला-अकुला चिल्लाता है,
रोगिणी उषा निज आँख मूँद,
दाँतों से अपने होंठ चबा रह जाती है !

स्त्री क्या कहा ?
उषा ? मंगल ?
ये सब हैं कौन ? कहाँ ?

गिरधर यह उषा,
यही मेरे प्राणों की संगिनि,
मेरी पत्नी है !
सप्ताह हो रहा है पूरा,
वह पड़ी रोग-शय्या पर
विकल कराह रही !
वह नारी, बेबस नारी है !
मैं पुरुष,
लिए उसकी रक्षा का भार
घूमता-फिरता हूँ !
साहस न तनिक होता,
मैं देख सकूँ उसकी गीली आँखें,
मुरझाया मुख,

जो कभी फूल-सा सुन्दर था !
वे गीली आँखें !
आह, क्या कहूँ
समझ नहीं कुछ पाता हूँ !
बस पाँच वर्ष ही पहले तो
काजल से काली
उसकी क्वाँरी आँखों ने
देखे थे कुछ मधु के सपने—
शीतल सुहाग की छाया है,
शरमाती कोयल गाती है,
अभिलाषाएँ मदमाती बाँहों पर
इठला कर सोता है !
लेकिन वे गीली आँखें,
जाने,
सोच रही क्या होंगी अब !

स्त्री कुछ भावुक-से तुम लगते हो !

गिरधर (हल्की हँसी) मैं भावुक हूँ !

स्त्री जाने भी दो,
तुमने न तनिक कुछ कहा,
कौन है मंगल वह !
मंगल का ही तो नाम लिया था कुछ पहले ?

गिरधर मंगल मेरी आत्मा का धन !
मंगल मेरा जीवन-प्रकाश !
वह प्रणय-चिह्न !
ऊषा का प्राण वही तो है !
मैं सदा सोचता हूँ,
वह सुन्दर कोमल शिशु

क्योंकर जन्मा
खंडहर-से उस टूटे घर में!
वह होता किसी महल में यदि,
उसको मिलते
पालने-खिलौने,
नन्हीं-सी मोटर गाड़ी,
जो तड़प-तड़प कर भी
मैं उसको दे न सका!
देता भी उसे कहाँ से मैं ?
मेरे अंतर में शेष
स्नेह ही तो है अब !
बस यही स्नेह
रोगिणी उषा के माथे पर बरसाता हूँ!
बस इसी स्नेह की बूँदों से
मैं मंगल को बहलाता हूँ!

स्त्री तुम कायर हो!
जीवन में तुमने
केवल रोना सीखा है!
तुम अपनी अंधी क़िस्मत पर
आँसू बरसाते हो केवल!

गिरधर क्या करूँ,
जूझता-टकराता जब हार गया,
तब रोता हूँ!
लेकिन मैं कायर नहीं,
अभी भी टकराने को तत्पर हूँ!
मैं खोज रहा हूँ श्रम कोई!

स्त्री श्रम यहाँ मिलेगा

भला खोजने से ही बस ?
जा कहीं,
किसीके सम्मुख
अपने हाथ जोड़,
नतमस्तक हो भिक्षा माँगो।

गिरधर भिक्षा माँगूँ ?
ये कैसी बातें कहती हो !
मेरी आत्मा
इसको स्वीकार नहीं करती।
सम्मान आत्मा का खंडित हो जाएगा,
मेरी यह आत्मा
घुट-घुट कर मर जाएगी !

स्त्री आखिर, तुम कहो,
करोगे क्या ?

गिरधर कुछ समझ नहीं पाता हूँ मैं,
क्या करूँ यहाँ, इस जीवन में !
जो कहती हो,
शायद वह करना ही होगा,
पर उतने पर भी यदि कोई श्रम मिल पाए !
अब कोई पथ है शेष नहीं मेरे सम्मुख !
ऊषा की गीली आँखें
मुझसे कहती हैं —
आत्मा की बातें भ्रम हैं, केवल मिथ्या हैं !
है सत्य यही,
इस धरती पर जीवित रहना,
जीवित रहने के लिए
करूँगा सब कुछ मैं !

अच्छा, अब आज्ञा दो मुझको,
मैं चलूँ ज़रा।

स्त्री भाई गिरधर,
तुम कहते थे,
अवकाश तुम्हें है जीवन में,
लेकिन क्यों अभी भागते हो ?

गिरधर सोचा था पहले,
मैं न कहीं भी जाऊँगा,
लेकिन है इन्टरव्यू एक,
जाना चाहिए वहाँ मुझको !
अपनी क़िस्मत को एक बार फिर टकरा लूँ !

स्त्री देखूँगी वहाँ तनिक चलकर,
क्या होता है !

[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

समवेत दीवाने गा रहे हैं !
आज़ाद ज़िन्दगी पर ये मुस्कुरा रहे हैं !
हो पास में नहीं कुछ,
पर कुछ भी ग़म नहीं है,
दिल रो रहा भले हो,
मस्ती भी कम नहीं है,
ये तार ज़िन्दगी के जी भर बजा रहे हैं !
दीवाने गा रहे हैं !

माधव बन्द भी करो गीत !
जाकर पूछो,
बज गए चार,
कब इन्टरव्यू शुरू होगा ?

अब्दुल है किसको ग़रज पड़ी,

जाकर पूछे उनसे !
मर्ज़ी उनकी !
इच्छा होगी जब,
आकर शुरू करेंगे ही !

माधव कुछ बात सुनोगे भी मेरी ?
मैं कहता हूँ,
जल्दी से काम खत्म होता,
हम अपने-अपने घर जाते !

अब्दुल घर पर ही जाकर
कौन काम हम कर लेंगे ?
है काम भला क्या
वहाँ हमारे लिए रुका ?
हम यहाँ रहें,
या वहाँ रहें, सब एक बात !

सब हम यहाँ रहें,
या वहाँ रहें, सब एक बात !

मोहन घर भी जाएँगे कैसे हम ?
कैसे हम फिर कह पाएँगे ?
दरवाजे पर टकटकी लगाए
खड़ी हुई

उमेश बुढ़िया माता,

गिरधर रोगिणी उषा,

मोहन अपनी पलकों के सपनों से
खेलती हुई प्रिय बेला से—
यह बाज़ी भी हम हार गए !

माधव क्यों ऐसी बातें कहते हो ?
हम यहाँ हारने नहीं,

जीतने आए हैं !

अब्दुल ऐसी बातें हम क्यों न कहें माधव भाई ?

हम खुली आँख से देख रहे,

हम सब आए हैं यहाँ एक सौ चार,

जगह है सिर्फ चार !

सब जगह है सिर्फ चार !

माधव इससे क्या हम सब

अभी यहाँ से लौट चलें ?

इससे हम सब पहले ही

क्योंकर हों हताश ?

यह तो क़िस्मत की बात,

लिखा होगा जिसकी क़िस्मत में,

वह विजयी होगा !

सब (हँसी)

अब्दुल यह तो बिल्कुल ही

ठीक कहा तुमने माधव !

यह तो क़िस्मत की बात,

लिखा होगा जिसकी क़िस्मत में,

वह विजयी होगा !

सब (हँसी)

अब्दुल यह तो क़िस्मत की बात,

लिखा होगा जिनकी क़िस्मत में,

वे उषाएँ अब मुस्काएँगी !

सब और सब ?

माधव और सब ?

और सब उषाओं की बात

मुझे मालूम नहीं !

सब (हँसी)

माधव बेकार हँसी,
बेकार उलझनेवाली सारी बातों में
यह समय बीतता जाता है !
कितना अमूल्य यह समय,
हाथ से प्रतिपल निकला जाता है !
जाकर पूछो,
बज गए चार से भी ज्यादे,
कब इन्टरव्यू शुरू होगा ?

अब्दुल भाई गिरधर,
माचिस तो मुझे ज़रा देना !

सब माचिस ?

अब्दुल देखते नहीं ?
बहुमूल्य समय
हाथों से निकला जाता है !
अपनी-अपनी सिगरेट जला
दो कश खींचो !
कुछ धुआँ उड़े,
जिसकी लहरों पर
मूल्यवान यह समय तिरे !

माधव तुम हँसते हो,
मैं कहता हूँ,
बहुमूल्य समय यह
नहीं तुम्हारा ही केवल !
यह तो समाज का भी धन है !

अब्दुल हम सब समाज के ही धन हैं !

सब (हँसी)

माधव जब हँसना ही है तुम्हें,
हँसो जीभर, खुलकर !
(तनिक ठहर कर)
भाई उमेश,
मैंने देखा ही नहीं
कि तुम भी आए हो !
आओ इस ओर,
कहो, तुम कैसे आए हो ?

उमेश आश्चर्य हो रहा है तुमको ?

माधव आश्चर्य नहीं,
मैं सोच रहा हूँ,
तुम भी काम करोगे
क्या अब फैक्ट्री में ?

उमेश करने भी दे कोई, तब तो !

माधव भाई उमेश,
तुम तो कानून पढ़ चुके हो !
शायद कर रहे
वकालत भी हो अभी कहीं !
क्यों, मन क्या लगता वहाँ नहीं ?

उमेश मन तो ज़रूर ही लगता है,
लेकिन मन के लगने से क्या ?
जब क्षुधा-तृषा की शान्ति न हो पाती उस

माधव लेकिन मेरा विश्वास
कह रहा है मुझसे,
तुम उसमें ही कुछ कर पाते !

उमेश मैं भी तो यही सोचता हूँ !

माधव क्यों भाग रहे हो उससे फिर ?

उमेश मैं कभी नहीं भागता,
अकेला रहता यदि !
मैं वहीं जूझता-टकराता,
मरता-जीता !
लेकिन कितना दायित्व
आ पड़ा है मुझ पर !
माँ है, पत्नी है, बच्चे भी !
उनकी रक्षा के लिए
मुझे कुछ करना है !

माधव अच्छा है,
क़िस्मत आजमाओ, क्या होता है !
औ' साथी वह ?
क्या नाम भला-सा था उसका !

उमेश आनन्द ?

माधव हाँ-हाँ,
आनन्द कहाँ, क्या करता है ?

उमेश वह सुख से है,
चिंता है उसे नहीं कोई !

माधव क्या करता है ?

उमेश खुशक़िस्मत था,
हो गया पुलिस-अधिकारी वह !

माधव लेकिन वह तो
विज्ञान पढ़ रहा था शायद !

उमेश हाँ-हाँ !

माधव मैं तो था सोच रहा,
वह वैज्ञानिक होगा !
संधान करेगा नए-नए !

थी कितनी तीक्ष्ण बुद्धि उसकी,
प्रतिभा थी कितनी ज़बर्दस्त !

उमेश पहले था वह भी
यही कहा करता हरदम !
जाने,
क्या उसने सोच लिया आगे चलकर !

माधव होता यदि वह वैज्ञानिक,
तो संभव है,
कुछ दे जाता वह !
जग को कुछ सुखी बनाता वह !

अब्दुल (तनिक दूर से)
आओ माधव,
क्या करते हो ?
हो रही पुकार तुम्हारी,
जल्दी से जाओ !

माधव आ गया अभी !
[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

स्त्री तुम थे निराश,
थे सोच रहे,
दुनिया में कोई जगह नहीं !
बोलो गिरधर,
अब तो खुश हो ?

गिरधर क्यों,
खुश होने की कौन बात ?
मैं तो कुछ समझ नहीं पाता !

स्त्री तुम खोज रहे थे कोई श्रम,
फैक्ट्री में तुमको काम

मिल गया मनचाहा !

गिरधर मिलता न अगर मुझको ,
वह मिलता किसी एक को तो ज़रूर !

स्त्री तो, इससे क्या ?

गिरधर मेरे मन में,
जाने कैसी,
मृदु करुण भावना जाग रही !
मेरी आँखों के सम्मुख
नाच रही है निर्मल की आकृति !

स्त्री यह निर्मल कौन ?
सुनूँ भी तो !

गिरधर साथी मेरा,
वह भी चुनाव में आया था !
उसके मुख की रेखाओं में
अंकित थे,
जीवन के कुछ निष्ठुर, निर्मम क्षण !
उसकी आँखें
निज मौन स्वरों में
कहती थीं कुछ करुण-कथा !
मैं सोच रहा,
वह मुझसे भी था अधिक दुःखित !

स्त्री कुछ बात तुम्हारी
नहीं समझ में आती है,
मतलब है क्या ?

गिरधर (हल्की हँसी)
मतलब क्या ?
कुछ भी नहीं !

सोचता हूँ यों ही !
मेरी ऊषा बीमार पड़ी है शय्या पर,
मेरा मंगल है माँग रहा गाड़ी नन्हीं !
मुझको जब जीवित रहना है
इस दुनिया में,
मैं चिंतित क्यों होऊँ
औरों के लिए भला ?

स्त्री — विश्राम चाहिए तुम्हें तनिक,
कुछ मन अशांत हो रहा तुम्हारा,
जाने क्यों ?

[दूर से मिल के भोंपू की आवाज़ आती है।]

गिरधर — अच्छा, अब चला,
क्षमा करना !
यह मिल का भोंपू
मुझे बुलाता है श्रम पर !

स्त्री — मैं भी चलती हूँ, देखूँगी !

[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

[पृष्ठभूमि में मशीन चलने की आवाज़ आती रहती है।]

समवेत — मैशीन चल रही है,
तू हाथ चलाए जा !

यह अग्नि-शिखा पीकर
प्रतिपल मचल रही है,
रुकती कभी न पलभर,
दिन-रात चल रही है,
तू भी न रुक तनिक भी,
निज हाथ बढ़ाए जा !

मैशीन चल रही है,
तू हाथ चलाए जा !

यह एक रूप सबको
प्रतिपल बना रही है,
बस एक स्वर निरंतर
सबको सुना रही है,
मैशीन के सुरों में,
तू तान मिलाए जा !
मैशीन चल रही है,
तू हाथ चलाए जा !

गिरधर तुम चुप क्यों हो ?
भाई रघुवर,
क्यों गा न रहे ?

रघुवर मेरा स्वर तनिक न मिल पाता
इस लौह-यंत्र के घर्घर से !
मेरे अंतर में
कभी-कभी बज उठता है
वह मधुमय स्वर !

गिरधर वह मधुमय स्वर ?

रघुवर वंशी का स्वर !
है तुमने कभी सुना, बोलो !
सुनते हो, यह कैसी ध्वनि है ?

[दूर से बाँसुरी की गूँजती हुई आवाज़ आती है, जैसे रघुवर उसे अपने मन में ही सुन रहा हो ।]

गिरधर मैं तो कोई ध्वनि सुन न रहा !
तुम किस वंशी की बात

कर रहे हो रघुवर ?

रघुवर वह वंशी टूट चुकी गिरधर !
पिस गई यहीं,
इस लौह-यंत्र के पहियों से !
केवल ध्वनि शेष रह गई है,
वह भी हो जाएगी विलीन धीरे-धीरे !

गिरधर तुम कैसी बातें करते हो ?
मैंने तो यहाँ नहीं देखी
बाँसुरी कहीं !
मैंने तो मशीनों के नीचे
पिसते उसे नहीं देखा !

रघुवर आश्चर्य !
उसे तुम नहीं कभी भी देख सके !

गिरधर भाई रघुवर,
यह कठिन पहेली
मैं न समझ पाता कुछ भी !

रघुवर यह नहीं पहेली,
सत्य बात मैं कहता हूँ !
पहले मेरे अधरों पर
वंशी बजती थी !
मैं कलाकार था, गायक था !
मैं हाथों में वंशी लेकर
कुंजों में घूमा करता था,
निर्झर के तट पर बैठ-बैठ
लहरों को गीत सुनाता था,
मेरी वंशी से
गूँज-गूँज तब उठती थी

मनमोहक ध्वनि !

[दूर से बाँसुरी की गूँजती हुई आवाज़ आती है।]

गिरधर तुम मौन हो गए क्यों रघुवर ?

रघुवर उन मधु-दिवसों की
स्मृतियाँ मचल रही हैं
मेरी पलकों में !
वे कैसे दिन थे,
कैसी निशि !
मैं मलयानिल-सा
गंध-मुग्ध हो गाता था !
थे सपने कुछ मेरे मन में,
कुछ होने के !
चल बसे पिता मेरे,
उफ् ! सपने लुप्त हो गए पल भर में !

गिरधर जीवन के संघर्षों ने
शायद लूट लिया उन स्वप्नों को !

रघुवर सच कहते हो
भाई गिरधर !
जब क्षुधा-तृषा की
ज्वालाएँ बरसीं मुझ पर,
मैं दग्ध, विकल हो
लगा खोजने शरण कहीं !
पर शरण कहाँ मिलती ?
पथ पर चलता-फिरता,
उठता-गिरता,
भूलता-भटकता
आ पहुँचा इस फैक्ट्री में !

इसके कर्कश कोलाहल में
खो गई बाँसुरी की मधु-ध्वनि !

गिरधर मैं समझ गया !
वंशी वह होती
आज तुम्हारे हाथों में,
तुम जग को कितने
मधुमय गान सुना पाते !
लेकिन कितनी बाँसुरियों की
ध्वनियाँ नित मिटती जाती हैं
इस लौह-यंत्र के कटु रव में !

भोला वंशी की ध्वनि तो नहीं,
किंतु मेरा भी कुछ खो गया कहीं !

गिरधर "कुछ" क्या, बोलो भोला भाई !

भोला मैं समझ नहीं पाता,
क्या कहूँ उसे गिरधर भाई !
कोई न शब्द मिलता मुझको।
मैं कैसे कह पाऊँ,
जो मुझको कहना है !
उफ, लगता है,
जिह्वा रहते भी गूँगा हूँ !
मैं जो कुछ सोच रहा हूँ,
उसे न कह पाता !

गिरधर क्यों, बचपन में
सीखा न कहीं पढ़ना-लिखना ?

भोला अफसोस यही तो है मुझको,
मैं पढ़ न सका !
था शुरू किया मैंने जरूर,

पढ़ना-लिखना अच्छा भी
लगता था मुझको !
शायद छोटे दर्जे में
मैंने फर्स्ट किया था उसी समय !
वे बातें अब भी
भूल न पाता हूँ गुरु की।
था कहा उन्होंने खुश होकर—
'तुम कितने अच्छे लड़के हो,
तुम पढ़-लिख करके
बड़े आदमी होओगे !' (हल्की हँसी)

गिरधर क्यों हँसते हो भोला भाई ?

भोला कुछ बीती बातें
ज़रा याद आ गईं मुझे !

गिरधर लेकिन तुमने न बताया कुछ,
क्यों पढ़ना छोड़ दिया तुमने ?

भोला माँ कहती थी—
'पढ़-लिखकर लाट बनेगा तू ?
इससे कोई फायदा नहीं
जा,
गलियों-सड़कों से चुनकर
कोयले उठा,
बाजारों में जाकर
फिर उसको कहीं बेंच।'
मैं करता क्या ?
उस समय कोयले चुनता था,
मैशीन साफ अब करता हूँ !

गिरधर है कोई बात नहीं मेरे भोला भाई !

मत हो निराश।

भोला मैं क्यों निराश होऊँ ?
मैं ही तो एक नहीं !
मेरे ये संगी-साथी,
जाने, कितने हैं !

प्रवेश मैं भी तो उनमें से ही हूँ !

गिरधर तुम भी उनमें कैसे प्रवेश ?

प्रवेश पहले मैं कूँची,
रंग, चित्रपट लेकर
घूमा करता था,
रँगता था गुल्म-लताओं को,
रँगता था निर्भर की कंपन,
अपने अंतर की धड़कन को,
अपनी पलकों के सपने को
मैं आँका करता था प्रतिपल !
मैं चाह रहा था
चित्रकार होना,
लेकिन मैं हो न सका !

पुरुष-स्वर २ मैं चाह रहा था
कवि होना,
मैं हो न सका !

पुरुष-स्वर ३ मन की इच्छाएँ
मन में ही घुट मरीं आह !

पुरुष-स्वर ४ अभिलाषाएँ पल भर में
जलकर हुईं राख !

समवेत जलकर हुई राख !

[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

[दूर से आह-चीत्कार की ध्वनि आती है।]

पुरुष यह विकलांगों का देश
सामने है मेरे !
धरती कराहती है,
नभ सिसका करता है !
बेचैन हवा मर्सिया हमेशा गाती है !
लहरें रोतीं,
बादल आँसू बरसाते हैं !

स्त्री सच कहते हो,
यह देश देख
मेरा अंतर हो रहा द्रवित !
वह सुनो,
सुन रहे हो तुम कुछ ?

पुरुष सुनता हूँ मैं।
वह विकलांगों की भीड़
बढ़ी आ रही इधर !

[निकट आता हुआ समवेत गान-'ज़िन्दगी—कुछ नहीं।']

पुरुष-स्वर २ अब बन्द करो यह करुण गान !
गाते-गाते
हो गए कंठ सबके गीले !
रोते-रोते
आँखें सबकी थक गईं आह !
अब रहने दो,
अब सुना नहीं जाता यह स्वर !

पुरुष-स्वर १ हम गीत खुशी के गाएँ क्या ?
जीवन में जब
कोई प्रकाश की किरण नहीं,

जब अंधकार
चारों दिशि से घहराता है,
हम गीत खुशी के गाएँ क्या ?
सब हम गीत खुशी के गाएँ क्या ?
पुरुष-स्वर २ बाहर प्रकाश की किरण
नहीं मिलती जग में !
तुम अपने अंतर का
प्रकाश ही पहचानो !
सब प्रकाश ही पहचानें ! (हँसी)
पुरुष-स्वर २ क्यों हँसते हो ?
सब अंतर का प्रकाश (हँसी)
पुरुष-स्वर २ यह हँसी तुम्हारी
विक्षिप्तों-सी लगती है !
इसमें है कोई अर्थ नहीं,
यह निराधार !
पुरुष-स्वर ३ तुम निराधार क्यों कहते हो ?
क्या नहीं देखते ?
हम सब हैं विच्छिन्न अंग,
विकलांग यहाँ !
सब विकलांग यहाँ !
पुरुष-स्वर ४ हम सबने जाने,
कहाँ, कौन-से पाप किए,
जो विकलांगों का देश यही पाया हमने !
पुरुष-स्वर १ यह विकलांगों का देश लग रहा
कारागृह-सा क्रूर, भयद !
लोहे की कठिन शृंखलाएँ
इस कारागृह में बजती हैं !

हम विकलांगों की भीड़
इसीमें वंदी है !
हम सबके हाथों-पैरों में
कुछ कड़ियाँ झन्-झन् करती हैं !
सब कुछ कड़ियाँ झन्-झन् करती हैं !
पुरुष-स्वर ३ यह विकलांगों का देश !
यहाँ है कहीं नहीं उज्ज्वल प्रकाश !
आकाश घिरा रहता प्रतिपल
काली विष-भरी हवाओं से !
हम सबकी साँसें
इसमें घुटती रहती हैं !
सब इसमें घुटती रहती हैं !
पुरुष-स्वर ४ यह विकलांगों का देश !
सभी वंदी इसमें !
धरती तो विस्तृत है अवश्य,
पर सभी जगह हैं सीमाएँ !
इन क्षुद्र मलिन सीमाओं में
सब जकड़े हैं !
सबका विकास हो रहा रुद्ध इनमें बँधकर !
सब सबका विकास हो रहा रुद्ध इनमें बँधकर !
पुरुष-स्वर १ इन पैरों में ताक़त न तनिक भी आ पाती !
स्त्री-स्वर रोशनी नहीं फिर कर आती इन आँखों में !
पुरुष-स्वर २ ये हाथ आह ! दुबले-पतले !
मैं कभी न कुछ कर पाता हूँ !
पुरुष-स्वर ३ मेरा शरीर बौना-सा ही रह गया आह !
पुरुष-स्वर ४ सबका विकास अवरुद्ध क्षुद्र सीमाओं में !
पुरुष-स्वर २ लेकिन रोने से क्या है कोई लाभ यहाँ ?

पुरुष-स्वर १ हम और करें क्या ?
कुछ भी हमको ज्ञात नहीं !
सब कुछ भी हमको ज्ञात नहीं !
पुरुष-स्वर २ मैं पूछ रहा,
तुम चाह रहे,
क्या रो-रोकर घुटकर रहना
इस विकलांगों की नगरी में ?
पुरुष-स्वर ३ वाह ! क्या कहते हो !
हम भला इसे क्यों चाहेंगे ?
सब हम भला इसे क्यों चाहेंगे ?
पुरुष-स्वर २ यह विकलांगों का देश नहीं चाहिए हमें !
सब यह विकलांगों का देश नहीं चाहिए हमें !
समवेत

हमें चाहिए मुक्त धरा औ'
हमें मुक्त आकाश चाहिए !

हमें चाहिए देश, जहाँपर
मुक्त रहें सब प्राणी,
मुक्त स्वरों से जागे प्रतिपल
मुक्त हृदय की वाणी,
सीमाओं से हीन जगत में
हमको मुक्त विकास चाहिए !
हमें चाहिए मुक्त धरा औ'
हमें मुक्त आकाश चाहिए !

[वाद्य-संगीत से समाप्त]

बादलों का शाप

आज जन-समाज पीड़ित है। उसे जीवन की सुविधाएँ नहीं मिल पातीं। लोग अभावों के निष्ठुर बंदी-गृह में घुटते हैं, व्याकुल होते हैं, पर समझ नहीं पाते कि उनके दुःखों का कारण क्या है। क्या यह भाग्य का लेख है? प्रकृति का शाप है? व्यक्ति या वर्ग विशेष के कर्मों का फल है? इन्हीं प्रश्नों पर यह प्रतीकात्मक काव्य-नाटक "बादलों का शाप" आधारित है।

[वाद्य संगीत से प्रारंभ]

[बादलों के उमड़ने-घुमड़ने की आवाज़]

समवेत बादल आए हैं !

उमड़-घुमड़ कर दिशा-दिशा से
नभ में छाए हैं !

देख सघन घन घिरे गगन में
मचला जग का अन्तर,
प्रमुदित हुईं लताएँ चंचल,
जल बरसेगा झर-झर,
नए स्वप्न, नव आशाएँ नव-
जीवन लाए हैं !
बादल आए हैं !

पुरुष उल्लास-हास का गान
अभी यह रहने दो !

स्त्री पर ऐसा क्यों ?
ऐसा मधुम यत्क्षण तो
जीवन में
कभी-कभी ही आता है !
हम कब से तृषित-पिपासित थे !
कब से धरती
जल के कुछ कण को व्याकुल थी !
कब से जग के
तृण-लता-गुल्म
वर्षा के लिए तरसते थे !

पुरुष लेकिन वर्षा हो सकी कहाँ ?

लेकिन धरती की प्यास
कहाँ कुछ बुझ पाई ?
स्त्री बादल जब नभ में छाए हैं,
बरसेंगे ही,
वर्षा होगी जब अंबर से
तृण-लता - गुल्म सरसेंगे ही,
धरती की प्यास बुझेगी ही,
पलकों के मनहर
सपने तब नाचेंगे ही !
पुरुष लेकिन ये निष्ठुर मेघ
रुकें पलभर, तब तो !
देखो, ये जल्दी-जल्दी
भागे जाते हैं !
उस ओर क्षितिज से
उमड़े आए थे चंचल,
दूसरी ओर बढ़ते जाते हैं द्रुतगति से !
स्त्री सच कहते हो !
उफ् !
यह क्या देख रही हूँ मैं !
ये काले-काले मेघ
हमारे नभ में तनिक न रुक पाते !
जाने क्यों, धरती पर
न तनिक जल बरसाते !
ये उमड़-घुमड़ कर
आए थे नभ में,
जैसे पृथ्वी को रसमय कर देंगे,
हरियाली से

सारी वसुधा को भर देंगे !
लेकिन अब क्या हो गया उन्हें !
बिन बरसे ही
वे क्योंकर भागे जाते हैं !

पुरुष ऐसा तो वे करते आए हैं कब से ही !
है नई बात यह नहीं
हमारे जीवन में !
क्या भूल गई ?
ये मेघ हमेशा
हमको छलते आए हैं !

स्त्री हाँ, भूल गई थी सचमुच ही !
मैं ही क्या,
सब थे भूल गए पिछली बातें !
जब प्यारे-प्यारे मेघ गगन में छाए हों,
कैसे कोई सोचे,
ये छलने आए हैं !
जब शीतल जल की धाराएँ
लहराती हों अपने सम्मुख,
कैसे कोई यह याद करे,
हम प्यासे थे !
जब कुंजों की हो घनी छाँह
सिर के ऊपर,
तब कौन धूप, आतप की
बातों को अपने मन में लाए !

पुरुष इससे ही तो,
जब मेघ गगन में छाते हैं,
तब सबकी आँखों के सपने

जग उठते हैं,
तब सबके मन की
अभिलाषाएँ गाती हैं,
तब सबके मन की
इच्छाएँ मुस्काती हैं,
तब रंग-बिरंगी आशाओं की दुनिया में
सब नर-नारी खो जाते हैं,
तब ध्यान नहीं रहता उनको,
ये काले-काले बादल
केवल छलना हैं, मृगतृष्णा हैं !

स्त्री ये बादल केवल छलना हैं,
सच कहते हो !
ये बार-बार
हम सबको छलने आते हैं !
हम तृषित-पिपासित
धरती पर हो खड़े-खड़े
टकटकी लगाए रहते हैं नीले नभ में !
बादल आते हैं,
गाते हैं,
मँडराते हैं,
फिर पलभर में ही
ओझल ये हो जाते हैं !
हम नील गगन में
नयन बिछाए ही
सदैव रह जाते हैं !

पुरुष धरती की प्यास न बुझ पाती !
चातक की व्याकुल चोंच

खुली रह जाती है !
होता आता है कब से यह,
होता जाएगा कब तक यह,
कुछ ज्ञात नहीं !

[बादलों की आवाज़, कुछ दूर से]

पुरुष वे बादल आए,
आकर, देखो, चले गए !
उस पार क्षितिज के जाकर
वहाँ बरसते हैं !

स्त्री आश्चर्य !
आह !
रस-धारा वहाँ बरसती है !
दो-चार कणों को
हम सब यहाँ तरसते हैं !

पुरुष यह भी तो कोई
नई बात है नहीं
हमारे जीवन में !
रसधारा वहाँ बरसती
आई है सदैव,
दो कण को हम सब
यहाँ तरसते आए हैं !
वह देखो,
झर-झर, झर-झर
बरस रही बूँदें,
लगता जैसे,
अंबर अमृत का कोष
लुटा देगा सारा उस धरती पर !

स्त्री उफ़्!
हम सब यहाँ अभागे हैं!
हतभागिनि धरा हमारी है!
अंबर में अमृत का है कोष भरा कितना!
लेकिन दो कण भी
हमें नहीं हैं मिल पाते!

पुरुष लेकिन अधीर होने से
है क्या लाभ भला?

स्त्री क्या लाभ? लाभ कुछ नहीं!
किंतु मन की अधीरता को
कैसे मैं चुप कर दूँ!
कोई अपने मन को
कैसे सँभाल पाए?
थी आश लगी,
इस बार मेघ
हम सबको जल देंगे ज़रूर,
हम सबकी प्यास बुझाएँगे!
बस इसी एक आशा पर
हम सब पलते थे!
लेकिन वह भी चुक गई आज!

पुरुष फ़िर भी हम सबको
अभी अधीर न होना है।
अबतक हम आशा के टुकड़ों पर ही
तो पलते आए हैं,
अब भी हम सबको
आशा पर ही जीना है!
आशा ही जग का जीवन है!

निष्ठुर घड़ियों में भी जग
आशा पर ही जीता आया है !

स्त्री लेकिन आशा का
है कोई आधार कहाँ ?

पुरुष आधार प्रकृति के नियम
चिरंतन हैं केवल !
जीवन की पृथ्वी
कभी नहीं स्थिर रहती है !
जीवन में सदा
न रह पाएगा अंधकार !
निशि के तम में ही
सदा छिपा रहता प्रभात,
पतझर के पीछे
हँसता रहता है वसंत !

स्त्री है नियम सत्य,
लेकिन, फिर भी,
बोलो, विश्वास करें किस पर ?
जिन मेघों पर
थीं टिकी हमारी आशाएँ,
वे हमको छल कर चले गए !

पुरुष वे गए,
दूसरे आएँगे !
जग में मेघों का क्या अभाव ?
है सत्य कि
कितने छल कर हमको चले गए,
है सत्य कि
अबतक प्यास हमारी बुझी नहीं,

है सत्य कि
मन में घिरा आ रहा अंधकार !
फिर भी हमको
जीवन में निज
विश्वास बनाए रखना है !

स्त्री सब सुनती हूँ,
सब समझ रही,
लेकिन ये तर्क वचन
उर को हैं तनिक नहीं सहला पाते !
अंतर को होता है न तनिक विश्वास
कि बादल आएँगे,
रस की बूँदें बरसाएँगे !

पुरुष तुम होती हो इतनी अधीर !

स्त्री मैं ही क्या,
धरती के नर-नारी
औ' शिशु, सब हैं अधीर !
विश्वास नहीं होता,
चलकर देखो उनको !

[वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन]

[पृष्ठभूमि में लू चलने की आवाज़]

शिशु माँ, प्यास लगी है मुझे !

माँ कहाँ से जल लाऊँ ?

शिशु दो घूँट सिर्फ पानी दे माँ !

माँ उफ्, मेरे शिशु !
मैं एक बूँद भी जल
न कहीं पर देख रही !
जल शेष हो गया धरती का,

रसमयी धरा हो गई
आज कितनी कठोर !
पृथ्वी का अमृत सूख गया !

शिशु — माँ कंठ सूखता है मेरा !

माँ — क्या करूँ आह !
कितनी बेबस,
असमर्थ हो रही हूँ मैं, शिशु !
तू माँग रहा जल की बूँदें,
नभ अंगारे बरसाता है !
सूरज की किरणें तीर बनी
धरती की छाती बेध रहीं !
यह अग्नि-देश से
आती हुई हवा निष्ठुर
फूत्कार कर रही है प्रतिपल,
विष की ज्वालाएँ फैल रहीं...

शिशु — मेरी माँ,
मेरा कंठ सूखता है अब तो,
दे थोड़ा भी पानी मुझको !

माँ — मेरे आँचल के लाल,
न हो इतना अधीर !
तू ही मेरी जीवन-आशा,
तू ही मेरी आत्मा का धन !
मैं तुझे नहीं जाने दूँगी !
तू ठहर ज़रा,
मैं जाती हूँ अमृत लाने,
तेरी रक्षा करने के हित
खोजने कहीं से शीतल जल !

शिशु मेरी माँ,
देर न करना तू,
जल्दी आना।

[करुण वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

माँ (ज़ोर से) पानी !
प्रतिध्वनि पानी !
माँ यह कूप सामने है मेरे,
देखूँ इसमें !
पानी !
प्रतिध्वनि पानी !
किससे जल माँगूँ ?
कौन मुझे देगा जलकण ?
मेरी पुकार तब सुने कौन ?
माँ मेरी आवाज़ क्षितिज से
टकरा आती है !
मेरी आवाज़
स्वयं मुझ पर ही हँसती है !
क्या करूँ ?
कहाँ से जल पाऊँ ?
प्यासा शिशु मेरी राह देखता होगा,
माँ जल लाएगी !
स्त्री (निकट आती हुई) क्यों बहन,
यहाँ क्यों भटक रही ?
क्या ढूँढ़ रही निर्जनता में ?
माँ मैं खोज रही जल के कुछ कण !
मेरे प्यासे शिशु चार
प्यास से तड़प, आह !

घर सूना करके चले गए !
पाँचवा गोद सूनी करने को तत्पर है !
क्या दे न सकोगी
मुझे कहीं से जल के कण ?

स्त्री मैं तुम्हें कहाँ से दे पाऊँ ?
मैं स्वयं खोजने आई थी
जल की बूँदें !
मेरी बिटिया व्याकुल होकर
चिल्लाती है !

माँ तुम भी अभागिनी माता हो मेरी-जैसी !
क्या सोच रही हो करने को ?

स्त्री सोचूँगी क्या ?
मैं भी जल के कण खोज रही !

माँ जल यहाँ नहीं है धरती पर !
मिल पाएगा कैसे, बोलो।

स्त्री मैं समझ नहीं पाती कुछ भी।

माँ जाओ, खोजो,
भगवान तुम्हारी बिटिया को जीवित रक्खे !
देखूँ मैं भी,
है कौन दान देता मुझको !

[करुण वाद्य-संगीत से दृश्य-परिवर्त्तन]

माँ (ज़ोर की हँसी)

पुरुष क्यों हँसती हो ?

माँ क्या नहीं देखते हो सम्मुख ?

पुरुष (आश्चर्य से) यह क्या ?
यह तो शिशु का शव है !
कोमल सुंदर प्यारा शिशु यह

धरती पर पड़ा हुआ है
अब निष्प्राण, आह !
क्या देख रहा हूँ हे भगवन् !
तुम हँसती हो क्यों इसे देख ?

माँ (हँसी) मैं हँसती हूँ !
हो गया मुक्त यह प्यारा शिशु
प्यासी जगती के बंधन से !

पुरुष कैसी निष्ठुर माता हो तुम !
जो अपने शिशु के शव पर
खुश हो हँसती हो !

माँ मैं हँसती हूँ,
मेरी आँखों में
आँसू शेष नहीं हैं अब !
चुक गए अश्रु
प्यारे शिशुओं के
चार शवों पर गिर-गिर कर ।
चुक गया हृदय का स्नेह
दीप में जल-जल कर !
थक गई मधुरता, कोमलता मेरे मन की
जीवन के निष्ठुर आघातों से टकरा कर !
अब जाग उठी है मेरे अंतर में ज्वाला !

पुरुष ज्वाला कैसी ?

माँ देखो इन मेरी आँखों में !

पुरुष सचमुच,
प्रचंड ज्वाला है इनमें सुलग रही !
मैं समझ नहीं पाता कुछ भी !
क्या हुआ जा रहा है तुमको ?

परिवर्त्तन तुममें देख रहा हूँ मैं कैसे !
विक्षिप्त हुई जाती हो क्या ?

माँ विक्षिप्त भला होऊँगी क्यों ?
मेरे निरीह शिशु पाँच
तड़प कर चले गए
'पानी' 'पानी' की रटन लिए
निज होठों पर !
माँगती रह गई जगती से
मैं जल के कण,
लेकिन दो कण भी मुझे
किसी से मिल न सके !
कितनी निष्ठुर दुनिया है यह,
आती न दया इसके मन में !
प्रतिशोध आज मैं इससे
अपने शिशुओं का लूँगी अवश्य !

पुरुष विक्षिप्त हो गई तुम सचमुच !
है ज्ञात न तुमको स्वयं
कि तुम क्या कहती हो !

माँ मैं कहती हूँ,
प्रतिशोध चाहिए
मुझको मेरे शिशुओं का !

पुरुष मैं देख रहा,
प्रतिहिंसा जाग रही तुममें
ये नयन तुम्हारे
हुए जा रहे हैं रक्तिम !
लेकिन मुझको लगता,
ये सब हैं तथ्यहीन !

प्रतिहिंसा का आधार नहीं दीखता कहीं,
है ज्ञात नहीं होता कुछ भी,
लोगी प्रतिशोध भला किससे ?

माँ प्रतिशोध चाहिए मुझको
निष्ठुर जगती से !
जल का कुछ भी
यदि दान दिया होता इसने,
मेरे शिशु कभी नहीं जाते,
मैं निराधार होती न कभी !

पुरुष मत हो इतनी अधीर नारी !
ठहरो, सँभलो
कुछ सोचो भी।
भावना-ज्वार में
छोड़ न दो मन की नौका,
खो जाएगी आंदोलित हो
वह पल में ही !
कोई न किनारा
तुम्हें कहीं मिल पाएगा !

माँ काश !
तुम्हें माता का हृदय तनिक होता,
तुम कभी नहीं कहते मुझसे ऐसी वाणी !
मैं कैसे अपने मन को
बाँध सकूँ, बोलो।

पुरुष जाकर देखो उन खेतों में,
कितने नर-नारी पीड़ित हैं,
कितने ही हैं विक्षुब्ध विकल !
तुम कहती हो,

तुम पर आघात हुए हैं निष्ठुर पाँच बार,
आया अकाल कुछ ठहर-ठहर,
ले गया तुम्हारे शिशुओं को वह हत्यारा !
लेकिन तुम पर ही नहीं,
धरा पर ही हैं ये आघात हुए !
नर-नारी सब
आघातों से क्षत-विक्षत हैं !
कितने ही शिशु मर-मिटे आह !
जाकर देखो उन खेतों में,
वे भी बैठे
अपनी किस्मत पर रोते हैं !

माँ
रोते-रोते मेरी आँखें थक गईं आह !
अब मैं न तनिक भी रोऊँगी।
मैं सोच रही,
इन आँखों से ज्वाला बरसे,
हो जाए धरती क्षार-क्षार !

पुरुष
क्या इतने से ही
तुम्हें शांति मिल जाएगी ?
मृत शिशुओं की क्या तृषा
तनिक बुझ पाएगी ?

माँ
तुम उनकी याद दिलाओ मत।
उनकी स्मृति से
रोता भी है, जल उठता भी
मेरा अंतर,
हो जाती हूँ मैं और विकल !

पुरुष
पगली न बनो।
तुम अन्य तृषित-पीड़ित

लोगों के संग रहो।
कुछ मिल पाएगी शान्ति वहाँ !
संतोष तुम्हें होगा
औरों को देख-देख !
तुम जाकर देखो वहाँ,
कर रहे हैं सब क्या !

माँ कहते हो, तो मैं जाऊँगी !

[वाद्य-संगीत द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन]

समवेत दहक रहे पग-पग पर
शत-शत अंगार !

बरस रहीं ज्वालाएँ,
झुलस रहे वन-उपवन,
झुलस रहे तरु-तृण सब,
झुलस रहे हैं कण-कण,
सम्मुख है ज्वाला का
दाहक संसार !
दहक रहे पग-पग पर
शत-शत अंगार !

इच्छाएँ झुलस रहीं,
झुलसी अभिलाषा,
सपने हो रहे भस्म,
दग्ध हुई आशा,
मधुर-मधुर फूल सभी
भस्म हुए, क्षार !
दहक रहे पग-पग पर
शत-शत अंगार !

स्त्री उफ् !
बन्द करो यह गीत !
रुद्ध होती वाणी
अब गा न सकेगी इसे और !
यह लू झुलसाती है
सब मेरे अंग-अंग !

पुरुष सच कहते हो,
यह अग्नि-विशिख-सी
बेध रही है रग-रग को !

समवेत हाँ, बेध रही है रग-रग को !

स्त्री ऊपर आकाश दहकता है,
नीचे धरती है धधक रही !
पग-पग पर
केवल अंगारे ही बिखरे हैं !
यह अग्नि-बाण-सी हवा
आ रही दिशि-दिशि से,
सबके तन को झुलसाती है !

समवेत सबके तन को झुलसाती है !

पुरुष यह ज्वालाओं का देश !
आह !
लगता, जैसे हम सब
इसमें जल जाएँगे !

समवेत जल जाएँगे !

पुरुष क्यों,
तुम क्या सोच रहे
बोलो, बीरू भाई ?

पुरुष १ रह गया सोचने को ही क्या ?

जीवन की आशा-अभिलाषाएँ खाक हुईं !
रह गया नहीं
अब जीवन का आधार कहीं !

समवेत रह गया नहीं
अब जीवन का आधार कहीं !

स्त्री ये लंबे-चौड़े खेत
दूर तक फैले हैं,
लेकिन इनमें
हरियाली का कुछ नाम नहीं !
सब हैं उदास,
सब हैं हताश !
सब ताक रहे हैं आसमान
आँखें फाड़े !
देखो उनको,
है जगह-जगह
खेतों का अंतर दरक गया,
लगता जैसे,
आशाओं का रस शेष हो गया धरती से !

समवेत रस शेष हो गया धरती से !

पुरुष १ आशाएँ मधुमय जीवन की
नव-नव अंकुर बन निकली थीं
उन खेतों में !
थे उगे हुए उनमें
अगणित नन्हें-नन्हें
औ' हरे-हरे पौधे कोमल !
उनकी पलकों में खेल रहे थे
जगती के सुन्दर सपने !

लेकिन, नभ ने ऐसी ज्वालाएँ बरसाईं,
सब भस्म हुए,
सब क्षार हुए !

समवेत सब क्षार हुए !

स्त्री उनसे पल में ही
ऐसा धुआँ उड़ा सहसा,
छा गईं दिशाएँ औ' धरती !
घिर गया सघन तम दिशि-दिशि में,
प्यारा भविष्य
उस अंधकार में डूब गया !

समवेत उस अंधकार में डूब गया !

स्त्री जाने, कब नई किरण
जीवन में आएगी !
जाने, कब मधुमय
रस-धारा लहराएगी !

समवेत जाने, कब बरसेगी मधुमय रसधार !
जाने, कब उमड़-घुमड़
बादल घिर आएँगे,
जाने, कब धरती पर
रसकण बरसाएँगे,
जाने, कब हरा-भरा होगा संसार !
जाने, कब नाचेगी
धरती पर हरियाली,
जाने, कब थिरकेंगी
आशाएँ मतवाली,
जाने, कब जीवन का होगा शृंगार !

पुरुष १ है ज्ञात नहीं होता कुछ,
हम कैसे जीवित रह पाएँगे !

समवेत कैसे जीवित रह पाएँगे !

पुरुष १ जो बीज दिए थे हमने
अपने खेतों में,
वे भी सबके सब सूख गए !

समवेत वे भी सबके सब सूख गए !

पुरुष केवल रोने से लाभ नहीं बीरू भाई !
सोचना हमें होगा अब तो,
क्या करना है !

पुरुष १ मालूम नहीं होता,
हमको क्या करना है।
दिशि-दिशि में फैल रहा है
गहरा अंधकार !
कोई प्रकाश की किरण
न दिखलाई देती !
कोई न राह सामने हमारे आती है !

समवेत कोई न राह सामने हमारे आती है !

पुरुष है राह नहीं सामने कभी आया करती,
खोजना उसे होता है
आँखें खोल सदा !

स्त्री बोलो,
कैसे खोजें हम सब ?

पुरुष सोचना हमें होगा पहले,
रसहीन धरा क्यों हुई आज ?
जग का अमृत क्यों सूख गया ?

	क्यों भस्म हो गए
	हरे-हरे पौधे असंख्य ?
पुरुष १	दुर्भाग्य हमारा !
	और भला क्या कारण है ?
समवेत	और भला क्या कारण है ?
पुरुष १	हमने हैं शायद पाप किए.
	छा गई कलुषताएँ हैं
	जीवन में इतनी,
	भगवान हो गए रुष्ट,
	प्रकृति हो गई क्रुद्ध !
	नभ ने अंगारे बरसाए,
	जल सूख गया इस धरती का !
	सब तृषित-पिपासित हुए आह !
समवेत	सब तृषित-पिपासित हुए आह !
स्त्री	मेरी बिटिया
	प्यासी ही जग से चली गई !
पुरुष १	अगणित प्यासे नन्हें पौधे
	उफ् , सूख गए !
समवेत	सूख गए !
पुरुष १	जब दैव रुष्ट हो गया,
	करेंगे हम सब क्या ?
	धरती के क्षुद्र मनुष्यों के
	वश में क्या है ?
	है यही हमारी क़िस्मत में !
समवेत	है यही हमारी क़िस्मत में !
पुरुष	क़िस्मत की बातें
	बार-बार क्यों कहते हो ?

तुम समझ नहीं पाते कुछ भी !
यह है सीधी-सी बात,
हुई रसहीन धरा,
इसलिए कि नभ से
मेघ नहीं उतरे भूपर,
अंबर से करुणा का जल
तनिक नहीं बरसा !
यह शाप बादलों का केवल,
है धरा बनी अभिशप्त आज !

पुरुष १ सच कहते हो,
यह शाप बादलों का केवल !

समवेत यह शाप बादलों का केवल !

पुरुष जब बादल थे हमसे प्रसन्न,
नभ में वे घिर-घिर आते थे,
करुणा की निज बाँहें पसार
शीतल छाया फैलाते थे,
धरती के श्यामल अंचल में
मंगल के कण बिखराते थे,
गंभीर स्वरों में अपने तब
वे पुण्य श्लोक कुछ गाते थे !

स्त्री धरती तब प्रमुदित होती थी,
श्यामल परिधान लपेटे अपने अंगों में
थिरका करती थी,
गाती थी,
जल की फुहार से नहा-नहा
निज मधुमय स्मृति बिखराती थी,
आनंद-मुग्ध हो जाते थे

नर, नारी, शिशु !

पुरुष — पर जाने क्यों,
हैं रुष्ट हो गए बादल अब,
अभिशाप उन्हींका
धरती पर यह छाया है !
हो रहे पिपासित, क्षुब्ध, विकल
असहाय सभी !

स्त्री — वह देखो,
दूर क्षितिज पर उड़ते हैं कब से
श्यामल-श्यामल
वे कजरारे बादल कितने !
वे वहीं घुमड़ते-फिरते हैं,
गर्जन करते
कुछ गाते हैं !
जाने, क्यों वे
न इधर आते !
प्यासी धरती पर
क्यों न तनिक जल बरसाते !

पुरुष — आएँ कैसे ?
बोलो,
जल बरसाएँ कैसे ?
वे रुष्ट हुए हैं धरती से !
धरती को शाप
उन्होंने दे डाले निष्ठुर !
अभिशप्त धरा के लिए
भला वे क्यों बरसें ?

कुछ स्वर — तब, शाप-मुक्त क्या

हो न सकेगी धरा कभी ?

पुरुष अब से भी धरती
शाप-मुक्त यह हो पाती !
अब से भी बादल खुश होते !
अब से भी कुछ जलकण गिरते !
धरती की तपन शांत होती,
खेतों में पौधे उग आते,
हरियाली फिर से लहराती !
जन-जीवन में
उल्लास-हास फिर मुस्काते !

स्त्री हम क्यों न प्रार्थना करें
आज फिर बादल से ?—
अभिशप्त धरा को मुक्त करो !

पुरुष १ सच कहती हो,
प्रार्थना करें हम बादल से—
अभिशप्त धरा को मुक्त करो !

समवेत अभिशप्त धरा को मुक्त करो !

समवेत दया करो अंबर के बादल,
शीतल जल बरसाओ !
आज हुई रसहीन धरा यह,
विकल हुआ जग-जीवन,
आज प्यास से क्षुब्ध धरा है,
प्यासा जग का कण-कण,
अमृत-कलश ले उतर पड़ो तुम,
इनकी प्यास बुझाओ !

कबसे तुम्हें पुकार रहे हम,
तुमको दया न आती,

धरती की इस दीन दशा पर
द्रवित न होती छाती,
ओ करुणा के बादल, हमको
शाप-मुक्त कर जाओ !

माँ (निकट आती हुई—जोर की हँसी)

पुरुष प्रार्थना-समय
यह अट्टहास गूँजा कैसा ?

माँ (अट्टहास)
प्रार्थना करो तुम और !
मौन क्यों होते हो ?

पुरुष तुम कौन ?
कहाँ से
दौड़ी-थकी आ रही हो ?

माँ मैं ?
क्या मुझे न तुम
पहचान रहे ? (अट्टहास)

कुछ स्वर पगली है यह !

कुछ स्वर पगली है यह !

माँ पगली हूँ मैं ! (अट्टहास)
सच कहते हो,
पगली हूँ मैं !
लेकिन तुम क्यों हो गए मौन
क्यों कर न रहे प्रार्थना और ?

पुरुष प्रार्थना हो चुकी अब समाप्त !

माँ प्रार्थना हो चुकी अब समाप्त !
लेकिन वे बादल
अब भी तिलभर नहीं हिले !

तुम देख रहे हो,
वहाँ क्षितिज पर काले बादल छाए हैं !
तुम देख रहे हो,
वहीं सदा वे शीतल जल बरसाते हैं !
तुम देख रहे हो,
वहाँ क्षितिज पर
हरे-भरे कैसे पौधे लहराते हैं !
नीचे कैसी मनहर हरियाली छाई है !

पुरुष हम देख रहे हैं सब कुछ यह,
लेकिन होता कुछ ज्ञात नहीं,
क्या कहती हो ?

माँ मैं कहती हूँ,
मैं पार क्षितिज से
दौड़ी चली आ रही हूँ !
मैं देख चुकी हूँ,
क्यों हैं बादल वहीं रुके !

पुरुष बतलाओ भी।

माँ तुम कहते तो,
बादल हत्यारे रुष्ट हुए हैं धरती से,
मैं अभी देख कर आई हूँ,
हैं स्वयं नहीं वे मुक्त वहाँ,
वे बंदी हैं !
चारों दिशि से
वे जंजीरों में जकड़े हैं !

पुरुष तुम कैसी बातें कहती हो ?

माँ उस पार क्षितिज के नीचे
बैठा एक मनुज

कर रहा नियंत्रित है मेघों को
इंगित से !
उसके यंत्रों से संचालित होकर
वे वहीं बरसते हैं !
वे मुक्त नहीं हैं
स्वत: कहीं भी जाने को !

पुरुष कैसी विचित्र बातें
तुम कहती जाती हो !

समवेत (हँसी)

माँ तुमको हँसना है, हँस लो !
मैं सच कहती हूँ,
मैं उसे देख कर आई हूँ !
उस पार क्षितिज के नीचे
बैठा मनुज शाप का स्रष्टा है !
रसहीन धरा है हुई उसी के शापों से !

समवेत (हँसी)

माँ प्रतिशोध चाहिए तुमको
मेरे साथ चलो !
मेरे नन्हें शिशु पांच
प्यास से तड़प-तड़प कर चले गए !
प्रतिहिंसा की ज्वाला
जलती मेरे मन में !
मैं खोज रही
निज शिशुओं का प्रतिशोध आज !
प्रतिशोध खोजती हुई
जगत के कण-कण में
मैं चली गई थी बहुत दूर !

मैंने देखा है सत्य आज !
प्रतिशोध चाहिए तुमको भी,
तुम भी अब मेरे साथ चलो !

पुरुष क्यों कर प्रलाप करती जाती ?
रुकती न तनिक !

कुछ स्वर पगली है यह !

कुछ स्वर पगली है यह !

कुछ स्वर पगली है यह

माँ (हँसी)
पगली हूँ मैं
प्रतिशोध चहिए मुझको
मेरे शिशुओं का !
मैं जाती हूँ,
प्रार्थना करो तुम मेघों की !

पुरुष जा, जल्दी जा !

कुछ स्वर पगली है वह !

कुछ स्वर पगली है वह !

कुछ स्वर पगली है वह !

समवेत (हँसी)

पुरुष १ क्यों हँसते हो,
उस नारी की बातों पर तुम ?

पुरुष हँसने की ही बातें
वह कहती है केवल !

स्त्री क्या सुना नहीं
उसका प्रलाप वह अर्थहीन ?

पुरुष वह कहती है,
उस पार क्षितिज के

बैठा कोई मनुज
शाप का स्रष्टा है !
उसने ही बंदी कर रक्खा है मेघों को !
वह नहीं बरसने देता है
उनको इस प्यासी धरती पर !
उस पार क्षितिज के
बैठा कोई मनुज
शाप का स्रष्टा है !

समवेत (हँसी)

पुरुष १ तुम हँसते हो !
कहते हो इन बातों को
हैं ये अर्थहीन !
अब तुम्हीं कहो
क्या कारण है,
रसहीन हमारी धरा हुई ?

पुरुष हम तो कहते हैं कब से ही,
यह शाप बादलों का केवल !

समवेत यह शाप बादलों का केवल !

स्त्री हम तो कहते हैं कब से ही
है प्रकृति रुष्ट हमलोगों से !

समवेत है प्रकृति रुष्ट हमलोगों से !

पुरुष हम तो कहते हैं कब से ही,
हमने है कोई पाप किया !

समवेत हमने है कोई पाप किया !

स्त्री हम भोग रहे कर्मों का फल !

समवेत हम भोग रहे कर्मों का फल !

पुरुष १ लेकिन ऐसा क्यों कहते हो ?

पुरुष ऐसा क्यों कहते हैं,
हम सबको ज्ञात नहीं !
पुरुष १ तब क्यों तुम कहते हो
हैं केवल सत्य यही ?
उस पगली की बातें भी
सच हो सकती हैं !
तुम देख रहे
उस क्षितिज-रेख पर
बादल ठहरे हैं कब से !
वे वहीं बरसते हैं सदैव !
संभव है,
कोई मनुज उन्हें
संचालित करता हो
अपनी इच्छाओं से
स्त्री संभव है,
यही बात सच हो !
समवेत यही बात सच हो !
पुरुष संभव ही नहीं,
मुझे तो उस नारी की ही बातें
अब सच लगती हैं !
विश्वास भरा था कितना
उसकी वाणी में,
कितने साहस से कहती थी—
अभिशाप नहीं यह मेघों का,
यह मानव-कृत्यों का ही फल
हम भोग रहे !
पुरुष १ मैं भी तो यही कह रहा हूँ,

उस पार वहाँ
हरियाली छाई रहती है,
इसका तो कोई कारण
होगा ही अवश्य !
वह नारी सच ही कहती थी,
है कोई वहाँ अवश्य,
किया है जिसने बंदी मेघों को,
जो नहीं उन्हें आने देता
इस ओर कभी !

स्त्री तब तो
विडंबना है सचमुच
इस जगती की !
उस ओर मेघ बरसें,
हरियाली लहराए,
इस ओर धरा
जल की कुछ बूँदों को तरसे !
उस ओर बसी हो
सुख औ' वैभव की नगरी,
इस ओर गगन गूँजे
केवल चीत्कारों से !

पुरुष सचमुच विडंबना है
इस प्यारी धरती की,
इतना दाहक वैषम्य
यहाँ पर छाया है !

पुरुष १ वह भी केवल
मानव कृत्यों के ही कारण !

समवेत मानव-कृत्यों के ही कारण !

स्त्री यदि भूल मनुज की ही
दुःखों का कारण है,
यदि हम सब भूखे-प्यासे हैं
केवल मानव के कर्मों से,
उन भूलों, कर्मों का
करना होगा सुधार !

समवेत करना होगा सुधार !

पुरुष मानव-निर्मित वैषम्य
न हम सब सह सकते,
उसका प्रतिकार
हमें मिलकर करना होगा !

समवेत प्रतिकार हमें करना होगा !

पुरुष १ सच कहते हो
हम वैषम्यों से
जूझेंगे, टकराएँगे,
हम जिसे बादलों का अभिशाप
समझते आए हैं अब तक,
हम जिसे भाग्य, दुर्दैव
मानते आए हैं,
उसको हम सभी मिटाएँगे !

समवेत उसको हम सभी मिटाएँगे !

पुरुष वैषम्य-कलुषताएँ जब
सब मिट जाएँगी,
उस क्षितिज-पार ही जैसी
होगी धरती यह !
बादल स्वच्छंद हो घूम-घूम
रस की बूँदें बरसाएँगे,

धरती की प्यास बुझाएँगे !
तब कोई भी कण
तृषित-पिपासित नहीं कहीं रह पाएगा !
तब प्रमुदित होकर
धरती यह मुस्काएगी !

समवेत धरती यह मुस्काएगी !

पुरुष लेकिन क्या कहने से ही यह हो जाएगा ?

पुरुष १ श्रम बिना सिद्धि
मिल पाती है इस धरती पर ?

स्त्री तब कहो,
हमें क्या करना है ?

समवेत हमें क्या करना है ?

पुरुष १ हम सब मिलकर
उस पार चलें—
उस क्षितिज-पार,
उस हरियाली की नगरी में,
चलकर देखें,
है कौन हमारे
अभिशापों का निर्माता !
क्यों उसने बंदी कर रक्खा है मेघों को ?
हम सब मिलकर
मेघों को मुक्त करेंगे अब !

समवेत मेघों को मुक्त करेंगे अब !

पुरुष १ उठो,
सजग हो !
ले साहस, विश्वास
बढ़ चलें हम सब

अपने नए पंथ पर !

समवेत बढ़ चलें नए पंथ पर !

पुरुष मंगलमय हो पंथ हमारा !

समवेत मंगलमय हो पंथ हमारा !

[आशा-उत्साहपूर्ण वाद्य-संगीत से समाप्त]